Volume 13, Number 1 & 2 January & July 2020 ISSN 09739580

LYNCEAN

JOURNAL OF CULTURAL AND HISTORICAL STUDIES

Semi-Annual

Editor: Pratibha

Volume 13, Number 1 & 2 **January & July 2020** **ISSN 0973-9580**

LYNCEAN

JOURNAL OF CULTURAL AND HISTORICAL STUDIES

Semi-Annual

Editor : **Pratibha**

email :
lyncean_jchs@yahoo.com

Lyncean:
Journal of Cultural and Historical Studies
January 2019 to July 2020
Volume 11-12
ISSN 0973-9580
Semi Annual

Editorial Office :
A-342, Chanbardai Nagar
Ajmer. 305003 Rajasthan (India)

Email :
Lyncean_jchs@yahoo.com

The Views expressed in the **LYNCEAN : JOURNAL OF CULTURAL AND HISTORICAL STUDIES** are those of the individual authors and not necessarily of editorial board. All the work related to Lyncean: Journal of Cultural and Historical Studies come under jurisdiction of Ajmer court only.

Subscribtion Rates:

In India

Institutional	Rs. 500.00
Individual	Rs. 500.00

Foreign

Institutional	US$60
Individual	US$60

For out station cheques please add Rs. 50/- & US $ 15 extra towards collection charges. Draft/Cheque should be in favor of **'Editor, Lyncean : Journal of Cultural and Historical Studies'** Payable at Ajmer. Send your Subscribtion to **Editor, Lyncean: Journal of Cultural and Historical Studies,** A-342, Chandbardai Nagar, Ajmer-305003, Rajasthan, India.

Published by Dr. Pratibha, A-342, Chandbardai Nagar, Ajmer 305003, Rajasthan, India

Printed by _____

Volume 13, Number 1 & 2 January & July 2020 ISSN 0973-9580

EDITORIAL BOARD

DR. SUGAM ANAND, Head,
Professorof History, Dr. B.R. Ambedkar University, Agra

Dr. RAVINDRA KUMAR SHARMA, (Retd.),
Professor of History, Kurukshetra University, Kurukshetra

Dr. S. N. DUBAY, (Retd.),
Professor of History, University of Rajasthan, Jaipur

Dr. ARUNA SINHA,
Emeritus Professor of History Banaras Hindu University, Varanasi

Dr. REKHA P. RANADE, (Retd.),
Professor of History, University of Pune, Pune

Dr. SHRAWAN K. SHARMA,
Professor of English, Gurukul Kangri University, Hardwar

Dr. D. P. TEWARI, Head,
Professor of History, Lucknow University, Lucknow

Dr. SHYAM PRASAD VYAS, (Retd.),
Professor of History, J.N.V. University, Jodhpur

Dr. MEENA GAUR, (Retd.),
Professor of History, M.S. University, Udaipur.

Dr. B. K. SHRIVASTAVA, Head,
Professor of History, Dr. H.S.G. University, Sagar.

Dr. SUDHIR BHATNAGAR, (Retd.),
Associate Professor Dept. of Sociology, National P.G. College,
Bhongaon, Mainpuri

Dr. ANUPAM BHATNAGAR, (Retd.),
Associate Professor, Dept. of Drawing and Painting, Dayanand College, Ajmer

INSTRUCTION TO AUTHORS

Lyncean: Journal of Cultural and Historical Studies accepts following forms for publication.

Research Papers

Articles

Review Paper

Good Quality Articles/Research Paper from Doctoral and Post Doctoral Students.

Good Quality Articles/Research Paper from Dissertation Work.

Recent Researches and Trends in Culture and History of their allied subjects.

News about Seminars, Conferences, Refresher Courses, Prizes and Awards, Scholarship, Appointments and other relevant important information.

All the papers and articles should be submitted in duplicate in hard copy along with a soft copy in C.D. It is Compulsory.

Use Kruti Dev 010 font for articles submitted in Hindi.

Paper should be categorised in proper sequence and in following manner :-

Title Author names, institutional address, email, abstract and keywords (use separate sheet), Article/Research Paper etc. Acknowledgement and references (References should bein similar format) and biographical sketch of author in separate sheet.

Paper, articles etc. will select on quality basis and if not accepted or publication will not be returned to the author if they are not accompanied by self addressed stamped envelope.

The facts and view in the Article/Research Paper etc. will be of the authors and author will be totally responsible for authenticity, validity and originality etc. for the Article/Research Paper etc.

All queries and correspondence should be through email : But all the papers and the articles have to be submitted in duplicate in hard copy along with a soft copy in C.D. It is compulsory.

Email address for queries and correspondences is lyncean_jchs@yahoo.com

Author and Co-authors must be the member of Lyncean: Journal of Cultural and Historical Studies.

Volume 13, Number 1 & 2 January & July 2020 ISSN 0973-9580

CONTENTS

सं.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं.
1.	भारत में नील उत्पादन एवं व्यापार : बयाना के संदर्भ में	डॉ. आलोक कुमार	1–11
2.	भारत में दलित समुदाय में राजनैतिक चेतना के संवाहक : डॉ. भीमराव अम्बेडकर	डॉ. प्रतिभा	12–18
3.	मेवाड के सिक्कों के अनछुए तथ्य	डॉ. पंकज आमेटा	19–30
4.	स्वतन्त्रता सेनानी– मोतीलाल तेजावत	डॉ. हेमेन्द्र चौधरी	31–38
5.	वानिकी संरक्षण एवं पर्यावरण शिक्षा में लोक सन्तों की भूमिका (संत जाम्भोजी के वानिकी संरक्षण एवं शिक्षण के प्रयास के विशेष संदर्भ में)	डॉ. प्रणव देव	39–50
6.	छत्तीसगढ़ में सामाजिक समरसता के ध्वजवाहक गुरु घासीदास : एक अध्ययन	डॉ. पंकज सिंह	51–62
7.	राजस्थान की लोक संस्कृति में पर्यावरण संरक्षण	ज्योत्स्ना	63–67
8.	मेवाड़ में स्वाधीनता आन्दोलन व सी. आई. डी. रिपोर्ट – एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण	डॉ. दिलीप कुमार गर्ग	68–84
9.	मुगलकालीन अश्वारोही सेना	डॉ. यश कुमार'	85–91
10.	1857 के रोचक प्रसंग व क्रिस्टोफर हिबर्ट	श्रीमती दीप्ति अग्रवाल	92–104

सं.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं.
11.	मेवाड़ क्षेत्र का अद्भुत ऐतिहासिक शिव मंदिर : अधरशिला महादेव	प्रभु बड़ार	105–112
12.	The Reign of Sher Shah Suri : A High Water Mark of Administration	Dr. Rajeev Ranjan	113–128
13.	Relativity in The Times of Corona	Dr. Kopal Vats	129–132
14.	Maintaining Religious and Cultural Identity in Diaspora : Gujarati Prajapati Community and Baba Ramdev's Sanatan Dharma in London	Vaidehi Paneri	133–140
15.	Mewar and World Wars	Rahul Kumar	141–150

सम्पादकीय

परिवर्तित होते समय के साथ इतिहास–लेखन के स्वरूप और साधन दोनों में ही परिवर्तन हुए हैं। इतिहास के पारम्परिक साधनों के साथ–साथ अलिखित/मौखिक साधनों का महत्व भी बढ़ा है। वैसे तो सम्पूर्ण मानव–इतिहास में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सूचनाओं का संप्रेषण मौखिक रूप से होता रहा है, परन्तु वस्तुनिष्ठता और विश्वसनीयता पर अधिक बल देते हुए मौखिक इतिहास की प्रामाणिकता को संशयात्मक दृष्टि से देखा जाता रहा है।

भारतीय परम्परा में तो प्रारम्भ से ही इतिवृत्तात्मक विवरण और जातीय स्मृतियों को इतिहास के दायरे में लाया जाता था, परन्तु इतिहास की पाश्चात्य परम्परा घटनाओं के क्रमबद्ध, प्रामाणिक विवरण पर ही जोर देती रही है।

परन्तु बीसवीं सदी के चौथे दशक से इतिहास की इस उपेक्षित धारा पर कार्य होने लगा और वर्तमान में सामाजिक–सांस्कृतिक इतिहास के साथ–साथ राजनैतिक इतिहास के संदर्भों में भी मौखिक साक्ष्यों की महत्ता स्वीकार की जाने लगी है।

निस्संदेह ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के लिए पारम्परिक साक्ष्यों के साथ–साथ मौखिक परम्पराओं एवं साक्ष्यों का उपयोग इतिहास के आयाम एवं स्वीकार्यता दोनों की वृद्धि में सहायक होगा। इसी आशा के साथ शोध–पत्रिका का वर्तमान अंक आपके समक्ष प्रस्तुत है।

प्रतिभा

भारत में नील उत्पादन एवं व्यापार : बयाना के संदर्भ में

डॉ. आलोक कुमार*

बयाना[1] 17वीं सदी में नील के उत्पादन का प्रमुख केन्द्र था। पेल्सर्ट (1626–1628 ई.), जिसने जहांगीर के शासनकाल (1605–1627 ई.) में उत्तर भारत का भ्रमण किया था, ने बयाना में नील के उत्पादन का एक अच्छा व विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। उसने बयाना के नील के कुण्डों की आकृति व रूपरेखा का भी विस्तृत व उसके विशिष्ट मापों के साथ वर्णन किया है।[2]

मुगलकालीन भारत से निर्यात व्यापार के समग्र विकास के सम्बन्ध में पर्यवेक्षण करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस सारे निर्यात व्यापार में नील को प्रथम स्थान प्राप्त था। पश्चिमी यूरोप में ऊन उद्योग का प्रमुख स्थान था और इसके लिए नील रंजक की आवश्यकता होती थी। आरम्भिक सूचनाओं के आधार पर यह ज्ञात होता है कि इस आवश्यकता की पूर्ति 'बोड' से की जाती थी। लेकिन 16वीं सदी की समाप्ति तक बोड का स्थान नील ले रहा था। नील को किस मूल्य पर प्राप्त किया जा सकता है यह सबसे बड़ी दुविधा थी,[3] फिर भी यह निश्चित है कि भारत में नील ही वह वस्तु थी, जिसको प्राप्त करना यूरोप के प्रारम्भिक क्रेताओं का प्रमुख उद्देश्य था। 1601 ई. में डच फैक्टर सूरत पहुंचे। उन्होंने नील को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थानीय उत्पाद बताया। डच अधिकारी वॉन डेसन के 1607 ई. में नील की खरीदारी के लिए प्रयत्नशील होने की सूचना मिलती है। 1609 ई. में विलियम फिंच द्वारा सूरत से भेजी गई रिपोर्ट में निर्यात की सम्भावित वस्तुओं में नील को विशिष्ट स्थान दिया गया था और इंग्लैंड से बाद के जहाजी बेड़ों द्वारा भेजे गए निर्देशों

*सह आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, एम. जे. एस. कॉलिज, भरतपुर, (राज.)

से भी इस तथ्य को प्रमाणित किया जा सकता है कि भारतीय व्यापार के विकास के लिए कम्पनी अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नील पर अधिक भरोसा करती थी।[4]

सर थॉमस रो के शब्दों में यह ''सर्वोपरि वस्तु'' थी, जो गंगा के सपाट मैदानों, सिन्ध, गुजरात, दक्षिण में, पूर्वी तट के साथ–साथ पैदा होती है। आगरा के निकट नील उत्पादन के निम्न केन्द्र हैं– हिण्डौन, बयाना, पिचूना, भुसावर, खानवा आदि।[5] जहां तक दक्षिण में उत्पादित नील का प्रश्न है, इसका उत्पादन तो स्थानीय उपयोग हेतु किया जाता था और अकबर के समय तक यह अत्यधिक विकसित भी नहीं हो सका था। जबकि जहांगीर के काल तक बंगाल का नील अपनी चरम सीमा पर था और शाहजहां के काल में पटना इसका प्रमुख केन्द्र बन चुका था।

आरम्भ में निर्यातक इसकी केवल 'सरखेज' व 'लाहौरी' किस्मों को ही जानते थे। सरखेज गुजरात की प्रमुख मण्डी अहमदाबाद से कुछ दूर पर स्थित है (वर्तमान में अहमदाबाद शहर में ही है।) जो उस समय नील उत्पादन का प्रमुख केन्द्र था और यहाँ के उत्पादन का अधिकांश भाग फारस की खाड़ी के लिए निर्यात कर दिया जाता था। गंगा दो–आब से भी कुछ मात्रा में नील प्राप्त होता था जो 'लाहौरी' के नाम से विख्यात था और इसका अधिकांश उत्पादन बयाना के निकट एक छोटे से भू–भाग में होता था जो आगरा से 50 मील की दूरी पर दक्षिण–पश्चिम में स्थित था। वर्तमान में यह भरतपुर की सीमा में है। इसे लाहौरी नाम इस कारण मिला क्योंकि इसको यूरोपीय मण्डी तक ले जाने वाले कारवां 'लाहौर' से चलते थे। बयाना के निकटवर्ती क्षेत्रों से उत्पादित नील अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध होता था और इसको अक्सर 'गोला' कहा जाता था क्योंकि यह गोलाकार होता था। जबकि सरखेज का नील टिकिया के रूप में था जिसे 'चौरस' कहा जाता था। रेत की मिलावट इसकी खासियत थी इसलिए, सरखेज के तीन पाउंड लाहौरी के दो पाउण्ड के बराबर थे।

तत्कालीन व्यापारिक गतिविधियों का अवलोकन व आकलन करने पर यह तथ्य सामने आता है कि यद्यपि इंग्लैड गोला नील के प्रयोग को प्राथमिकता देता था परंतु बयाना समुद्र तट से दूर था इसलिए गोला या

टिकिया दोनों को एक ही श्रेणी में रखा गया। यूरोप में यद्यपि लाहौरी का भाव अन्य किस्मों के मुकाबले में ऊँचा था परंतु मण्डी तक ढोकर ले जाने में काफी खर्च होता था।

नील की फसल कैसे उगाई जाती थी और उसको कैसे नील के रूप में उपयोग करने योग्य बनाया जाता था, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य है। पैल्सर्ट अपने विवरण में बताता है कि प्रथम बरसात के होने के साथ ही जून में नील बो दी जाती थी। अगर बरसात सामान्य है तो चार मास के दौरान फसल आपेक्षित उंचाई प्राप्त कर लेती थी और सामान्यतः सितम्बर के अन्त या अक्टूबर के आरम्भ में जबकि पूरी पक जाती थी, काट ली जाती थी। नील की पत्तियां आकार में गोलाकार होती थीं। कभी–कभी सर्दियां जल्दी आने अथवा फसल को काटना बहुत समय के लिए स्थगित कर दिये जाने पर मैन्युफैक्चरिंग के दौरान नील अपना रंग खो देती थी और बिना चमक के भूरे रंग की हो जाती थी क्योंकि यह शीत या ठंड नहीं सहन कर सकती थी।

नील की फसल अगर 'नौती' (प्रथम फसल) होती थी और इसमें पत्तियां प्रचुर मात्रा में उगती थीं तो वह अधिक उत्पादन का संकेत होता था जिसके लिए नील को गहरी निराई की आवश्यकता होती थी। कटाई के समय पौधों को जमीन से एक हाथ लम्बाई तक काटा जाता था। अगले वर्ष 'जियारे' (जड़ही) द्वितीय या नवांकुर फसल तने से पैदा होता था। एक बीघा में उत्पन्न पैदावार को 16–17 घंटे तक एक कुण्ड–गड्ढे अथवा कुएं में डुबाकर रखा जाता था। यह कुण्ड या कुआं 38 फीट की परिधि में साधारण आदमी की लम्बाई (सम्भवतः 5 फीट 5 इंच से 5 फीट 10 इंच या 6 फीट) जितना गहरा होता था, जिसमें पानी बह कर आता था जो कि थोड़ा नीचे के स्तर पर निर्मित 32 फीट के घेरे व 6 फीट गहरे गड्ढे अथवा कुण्ड में गिरता था। इसमें दो या तीन आदमी खड़े रहकर अपने हाथों से नील को आगे पीछे हिलाकर मिलाते थे जिसके फलस्वरूप गतिशीलता के कारण पानी गहरा नीला रंग सोख लेता था। अब इस पानी को 16 घण्टे के लिए स्थिर बिना छुए छोड़ देते थे जिससे नीला रंग गोलाकार कुओं या गड्ढों के नीचे बैठ जाता था और ऊपर के पानी को नल के स्तर की नाली द्वारा बाहर निकाल देते थे और फिर नीचे एकत्रित

नील को इकट्ठा कर लेते थे एवं उसे सूती कपड़े पर तब तक रखा रहने दिया जाता था जब तक वह साबुन की भांति कठोर न हो जाए। इसके बाद इनके 'गोले' बना लिए जाते थे। अब बाकी बची सामग्री को प्रकाश व हवा से बचाते हुए एक मिट्टी के बर्तन में रखा जाता था, ताकि वह अधिक न सूख जाए। नील एक घंटे की हवा में जल्दी सूख जाती थी बनिस्बत सूरज की तपिश में एक घंटा रखने के।

प्रत्येक कुएं या गड्ढे में लगभग 10 से 12 सेर माल निकलता था पौधों की पैदावार के अनुसार। परंतु पैल्सर्ट बताता है कि बेचने के दौरान ये गांठे या गोले एक मन में 5 सेर तक और सूख जाते थे। यह 'नौती' नील रंग में भूरी एवं गुण में निम्न होती थी जिसे देखकर अथवा स्पर्श करके पहचाना जा सकता था। परंतु यह गरम कपड़ों अथवा मोटे कपड़ों की रंगाई के लिए अधिक उपयोगी थी। 'जियारे' नील गुणवत्ता में 'नौती' से उच्चतर होती थी जो बैंगनी रंग देती थी। यह हाथ में लेने पर 'नौती' से अधिक हल्की लगती थी। अतः इसकी गुणवत्ता बिना परीक्षण के भी पहचान में आ जाती थी। इसी प्रकार इसकी गुणवत्ता के प्रति निश्चित होने के लिए व्यापारी व जानकार इसका परीक्षण दोपहर से पूर्व धूप में देख कर भी कर लेते थे। क्योंकि यदि यह शुद्ध होती थी तो इसकी चमक अलग देखी जा सकती थी और यह इन्द्रधनुष की तरह विभिन्न रंग बिखेरती थी। इसी प्रणाली को अपनाकर यह भी सुनिश्चित किया जा सकता था कि इसमें रेत या गन्दगी तो नहीं मिलाई गई है, क्योंकि सूरज की रोशनी में यह सब साफ हो जाता था। इस प्रकार की अशुद्धताओं के पीछे केवल मात्र एक कारण था और वह था उसका वजन बढ़ाने के लिए। परंतु कभी–कभी ऐसा न चाहते हुए भी हो जाता था जब गोलों को, जबकि वे ताजे होते थे और सख्त नहीं हुए होते थे, सूखने के लिए बालूदार भूमि में छोड़ दिया जाता था, तब उनमें बालू चिपक जाती थी।

'कटेल' की गुणवत्ता सबसे कम थी क्योंकि यह कठोर, कम या बिना चमक वाली या लगभग कोयले के रंग की होती थी। इसका खरीद मूल्य आधा होता था और इसे पीट–पीटकर पाउडर में परिवर्तित किया जाता था। नील की इन तीनों किस्मों की गुणवत्ता को बताने के लिए पेल्सर्ट एक आसान व जल्द समझ में आ जाने वाला उदाहरण प्रस्तुत

करता है– वह कहता है कि 'नौती' नील एक बढ़ते हुए बालक के समान है जिसे अभी अपने पूर्ण उभार व यौवन पर आना है, 'जियारे' उस व्यक्ति के समान है, जो अपने पूर्ण यौवन पर है, 'कटेल' एक वृद्ध शक्तिहीन आदमी के समान है जिसे अपनी जीवन यात्रा के दौरान कई विषादों की घाटियां एवं तकलीफों के पहाड़ पार करने पड़े हैं जिसने न केवल परिवर्तन एवं चेहरे पर झुर्रियाँ ला दी हैं, बल्कि शनैः शनैः असहाय बुढ़ापे की ओर धकेल दिया है। वह एक बात इसमें और जोड़ता है कि नौती सार एवं गुणवत्ता में कटेल से काफी अच्छी है। जियारे एवं नौती की कीमत में एक रूपये का अंतर है। इस प्रकार ये कटेल से दो गुना कीमत की होती है।

बयाना नील की गुणवत्ता के विषय व कारण के बारे में भी पेल्सर्ट ने दो पंक्तियाँ लिखकर स्पष्ट किया है। वह कहता है कि वास्तविक बयाना नील, जो उस कस्बे के समीप बनाई जाती थी, उसका कुल उत्पादन मात्र 300 गांठ तक ही सीमित था और यह पड़ोस में उत्पन्न होने वाली नील से गुणवत्ता में अत्यधिक थी। यह उत्तमता व गुणवत्ता मूलतः कस्बे के समीप स्थित कुओं में मिलने वाले खारे पानी के कारण है क्योंकि मीठा पानी नील को सख्त व घटिया बना देता था। वह यह भी सम्भावना बताता है कि आस–पास अवस्थित दो कुओं में से एक में खारा पानी व एक में मीठा पानी हो सकता था, परंतु इस स्थिति में खारे पानी से पैदा हुए पौधे की नील का मूल्य मीठे पानी से सिंचित उसी खेत से काटे गए नील के पौधे की नील से कम से कम एक रूपया प्रति मन मूल्य में अधिक होता था।[6]

नील उत्पादन के क्षेत्र व स्थान

पेल्सर्ट ने उन गांवों व स्थानों के नामों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, जहां पर नील के पैदावार व उत्पादन का कार्य होता था। इन स्थानों में सर्वोत्तम प्रकार की नील व द्वितीयक श्रेणी की नील के उत्पादक क्षेत्र,दोनों का ही वर्णन है परंतु डच यात्री होने के कारण फ्रांसिस्को पेल्सरेट (1620–27 ई.) द्वारा स्थानों के नामों का विवरण पहचान पाना थोड़ा मुश्किल प्रतीत होता है। मुख्य स्थानों के नाम तो पहचानना आसान

है परंतु उनके अन्तर्गत जिन गांवों के नामों का पेल्सर्ट करता है उन्हें कई बार पहचानना मुश्किल भी हो जाता है। यद्यपि उसके द्वारा इन स्थानों की मुख्यालय से दूरी भी बताई है इसलिए नाम पहचानने में कुछ सहूलियत अवश्य होती है। मुख्यतया पांच स्थानों व उनके अन्तर्गत आने वाले गांवों का वर्णन उसके विवरण में मिलता है –

1. बयाना[7] – इब्राहिमा देवात (एक कोस), सेरको (4 कोस), ओटस्चियेन (उज्जैन 6 कोस), पतेहीऊना (पिचूना, 5 कोस), सोनवा (4 कोस), पीनीजोड़ा (6 कोस), मौनाना (6 कोस), वीरमपुर (4 कोस), मेलेकपुर (मलिकपुर 4 कोस), वटजिओरा (बचोडा 4 कोस), पेडूरले (4 कोस), पेहेकटेसी (7 कोस), खोनडियर (5 कोस), रोडूवलकेडा (4 कोस), नीम्बेडा (7 कोस), सेनेओपना (5 कोस), लुथेहोड़ा (4 कोस)।

2. धनोबा (खानवा) – बयाना से 10 कोस पश्चिम में, महाल (2 कोस), रौवास (2 कोस), सेरतसौण्डा (सिरसोदा 1 कोस), दाबेर (2 कोस), महालपुर (1 कोस), गोरासा (1 कोस), दानाधाम (2 कोस), बरावा ($1^{1/2}$ कोस), ओरडेला (3/4 कोस), फेटापुर (5 कोस)।

3. बसडवेर – बयाना के 10 कोस पूर्व में। वैर (3 कोस), रसूलपुर (4 कोस), हिसौण्डा (4कोस), सेरस (2 कोस), बोरोली ($1^{1/2}$ कोस), जियाराथड़ा (3 कोस), जेत (चौली 3 कोस), सोनोहेर (6 कोस), सोनखेड़ी (6 कोस)

4. हिण्डौन – बयाना से 10 कोस। खेड़ा (2 कोस), जियालेपुर (जमालपुर 2 कोस), कोटोपुर (2 कोस), परिकानेपुर (3 कोस) आसियेपुर (वजीरपुर 6 कोस), सेरोट–सुरौठ (5 कोस), नारदौली (6 कोस)।

5. टोरा – बयाना से 18 कोस। इसके अन्तर्गत काफी अन्य गांव थे। वार्षिक 100 गांठें उपजती थीं। नील रंग में बैंगनी की बनिस्पत भूरी है और अन्य स्थानों की तुलना में यहां पर छोटे गोले बनाए जाते थे।

बयाना के अतिरिक्त आगरा से 30 कोस की दूरी स्थित कोइल/कोल/अलीगढ़/गोरसाईं में भी नील की अच्छी मात्रा में पैदावार होती है। इस पैदावार को आरमेनियन लाहौर व काबुली व्यापारियों द्वारा खरीदा जाता था। यह भी अच्छी नील थी परंतु बयाना की तुलना में कम होने के कारण अंग्रेज व डच इसे अधिक महत्व नहीं देते थे। यद्यपि पेल्सर्ट का मानना है कि परीक्षण के तौर पर इसकी कुछ गांठे अवश्य खरीदनी चाहिए ताकि वास्तविक स्थिति का भेद पता चल सके परंतु पैसों की कमी के चलते 1620–21 में ऐसा करवाने में स्वयं को असमर्थ बताता है। ऐसा इसलिए भी आवश्यक बताता है क्योंकि तब उनकी बयाना के नील पर निर्भरता कम हो जायेगी। इतना ही नहीं, इन क्षेत्रों में 1000 तक गांठों का उत्पादन होता है इसलिए यहां से पर्याप्त मात्रा में माल लेने की सुविधा भी है फिर ये उससे सस्ता होने के कारण अधिक मात्रा में खरीदा जा सकता था।[8]

पेल्सर्ट का अनुभव नील उत्पादक क्षेत्रों में काफी गहन रहा था इसीलिए वह बताता है कि बयाना के साथ–साथ मेवात जो आगरा से 30 कोस की दूरी पर है वहां भी अधिकांश गांवों में नील बनाई जाती है और वार्षिक उत्पादन 1000 गांठों तक होता है परंतु इसको बनाने की विधि बयाना जैसी न होकर सरखेज की पद्धति से मिलती है और यह रेत में सनी होने के कारण गुणवत्ता में निकृष्ट व निम्न होती है। सबसे बड़ा अन्तर यह है कि यहां पर एक ही कुआं या गड्डे का इस्तेमाल होता है जबकि बयाना में दो गड्ढों का होता था। इसलिये मेवात की नील का भाव 20 रूपए मन और बयाना 30 रूपये मन मिलता है। इसका निर्यात नहीं होता। स्थानीय अथवा जहां पैदावार नहीं होती है वहां पर इसका प्रयोग होता है। पेल्सर्ट बताता है कि इतना होते हुए भी इस बार डच कम्पनी ने इसे परीक्षण हेतु क्रय किया है।[9]

नील उत्पादन व व्यापार का पतन

जिस प्रकार का वर्णन विदेशी यात्रियों, व्यापारियों तथा समकालीन स्रोतों में नील के उत्पादन व निर्यात तथा बयाना व भारतीय नील की गुणवत्ता के विषय में प्राप्त होता है उससे एक तथ्य तो सुनिश्चित होता है

कि भारतीय/बयाना नील की यूरोप में अत्यधिक मांग थी और उस मात्रा में नील का उत्पादन इस छोटे से क्षेत्र में सम्भव नहीं था। जितनी मेहनत व दुश्वारियां इसको उत्पादित करने में थीं। उतना मूल्य सामान्यतया नील उत्पादकों को प्राप्त नहीं होता था। फिर भी इतना उत्कृष्ट व्यापार व निर्यात जहांगीर के शासन तक समाप्त कैसे हो गया? अचानक कौन से ऐसे कारक थे जिन्होंने नील उत्पादन व व्यापार के पतन में सहयोग किया? पेल्सर्ट कुछ कारणों की तरफ इशारा करता है – जैसे प्राकृतिक कारण, राजनैतिक कारण व आर्थिक कारण।

नील की खड़ी फसल अन्य फसलों या उत्पादों की तुलना में प्राकृतिक दुर्घटनाओं या अनर्थों का शिकार अधिक होती थी। अगर 'नौती' की बुआई के पश्चात् कम बारिश हो तो बीज जमीन में ही सूख जाते थे, जबकि अतिवृष्टि एवं धूप की कमी पौधों को सड़ा देती थी। इतना ही नहीं, नौती की सफलता के पश्चात् दिसम्बर–जनवरी तथा फरवरी की ठंड भी जियारे की जड़ों को नुकसान पहुंचाती है जिसके पश्चात् किसी अन्य फसल की आशा नहीं की जा सकती। यदि ऐसा न हो और बरसात देरी से हो अथवा जून–जुलाई के पूवार्ध में बारिश न हो तो जड़ें सूख जाती हैं और फसल को कोई पौष्टिकता उपलब्ध नहीं हो पाती है। इस प्रकार मौसम की मार व घात से नील को नुकसान पहुंचता था।[10]

इसी प्रकार दूसरा कारण नील व्यापार व उत्पादन को नुकसान पहुंचाने वाला था। 1630 ई. का अकाल और 1621 ई. व 1640 ई. की अतिवृष्टि जिसने नील के खेतों को व फसल को तालाबों में परिवर्तित कर दिया था। पेल्सर्ट बताता है कि 1621 ई. में नील की फसल इतनी अच्छी हुई थी कि कृषकों को भय था कि इसको खरीदने के लिए व्यापारी कम पड़ जायेंगे लेकिन अतिवृष्टि के कारण अधिकांशतः फसल तो बह गई और जो बची उससे 400 गांठे भी नहीं बन पाईं। परिणामस्वरूप अधिकांश व्यक्ति जो धनवान थे और जो अपने सम्पूर्ण जीवन नील की बुवाई से जुड़े रहे थे, वे सब ऐसे दरिद्र हो गए कि लम्बे समय तक पूर्व की भांति नील की वैसी खेती नहीं कर पाए।

तीसरा कारण जो पेल्सर्ट बताता है वह है नील की फसल पर ट्डिडी दल का हमला। पेल्सर्ट लिखता है कि ''गत तीन सालों से लगातार 1625–1627 ई. के तीन वर्षो में जून, जुलाई, अगस्त के महीनों में टिडिड्यों के बहुत बड़े दल आए जिन्होंने कभी–कभी तो सूरज तक को ढक लिया एवं जहां–जहां वे बैठीं उन्होंने सारी खेती का सफाया कर दिया। यहां तक कि एक भी पत्ती नहीं छोड़ी। वे बयाना के आस–पड़ोस में इस सीमा तक छाई रहीं कि जहां तक नजर जा सकती थी, वहां तक नील के खेतों का सफाया कर दिया। इसी प्रकार की दुर्घटना 1646 ई. में घटी और नील को नुकसान हुआ। इन तीनों कारणों व घटनाओं ने नील के उत्पादन व व्यापार को इतनी घातक चोट दी कि फिर कभी नील की खेती, उत्पादन व व्यापार इस चोट से उबर नहीं पाये।

इन कारणों के अतिरिक्त शाही अधिकारियों द्वारा नील के व्यापार हेतु कर छूट देने के नाम पर रिश्वत मांगना तथा नील व्यापार पर एकाधिकार करने हेतु शाहजहां द्वारा सन् 1633 ई. में पतझड़ के मौसम में एक शाही फरमान निकाला जाना भी शामिल था, जिसके अनुसार आने वाले तीन वर्षों तक नील की बिक्री का कार्य सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य में एक हिन्दू मनोहरदास को दिया गया और उसे मुगल शाही कोषागार से कर्ज इस शर्त पर दिया गया था कि नील की बिक्री से होने वाले लाभ में मुगल सत्ता का भी हिस्सा होगा। यह आज्ञा शाहजहां ने ईरान के शाह के सिल्क के एकाधिकार को देखते हुए जारी की थी।

यद्यपि डच व अंग्रेज व्यापारियों ने इस आज्ञा का जोरदार विरोध किया परंतु इस हिन्दू व्यापारी को मीर जुमला जो कि एक प्रभावशाली अमीर था, का वरदहस्त प्राप्त था।[11] परंतु नील खरीद के इस एकाधिकार को तोड़ने के लिए डच व इंग्लिश व्यापारिक कम्पनियों ने एक संधि की जिसके अनुसार एक साल तक वे कोई नील की खरीद नहीं करेंगे और पैसे बचायेंगे तथा नील की खरीद व्यक्तिगत न होकर संयुक्त खरीद होगी और दोनों ही नील को भाड़े या बोझ की तरह नहीं लेंगे। इस गठबन्धन ने शाहजहां को अपना करार मनोहरदास व मीर जुमला (14 अप्रैल, 1635 को) से तोड़ने को बाध्य कर दिया।

नील व्यापार हेतु अंग्रेजों ने 1644 में सिन्ध के थट्टा प्रान्त में भी प्रयास किए और थट्टा के गर्वनर दाराशिकोह से निशान[12] प्राप्त करने में भी सफल रहे। स्पिलर, जो कि थट्टा फैक्टरी का प्रबन्धक था, सूरत फैक्टरी को लिखता है कि उसने (दाराशिकोह ने) हमसे वादा किया है[13] कि आपसे सम्बन्धित कुछ आज्ञाएं (निशान) हमें और प्रदान करेगा जो उसकी थट्टा की सीमाओं में स्थित सीमाशुल्क से सम्बन्धित होंगे।[14] परंतु ये आशाएं फलीभूत नहीं हो सकीं क्योंकि थट्टा के किसानों ने नील उत्पादन हेतु मना कर दिया क्योंकि सरकारी अत्याचार इतने अधिक थे कि किसान को नहीं मालूम था कि वो फसल कर भी पायेंगे या नहीं।

अन्तिम कारण जिसने नील की खेती व व्यापार को समाप्त करने में अपना योगदान दिया वह था मिलावट। व्यापारी को यह पता नहीं होता था कि वह कितनी रेत खरीद रहा है नील के रूप में। अहमदाबाद के गर्वनर ने इस मिलावट को रोकने हेतु अत्यधिक प्रयास किए। यहां तक कि सिद्ध होने पर कुछ मृत्युदण्ड तक जारी किए गए, परंतु यह बुराई रोक पाने में वह असफल रहा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रकृति के साथ–साथ मुगलों ने व प्रशासन ने इस फलती–फूलती व्यापारिक वस्तु को समाप्त करने के लिए इस हद तक षड्यंत्र किए कि यह पुनः स्थापित नहीं हो पायी और आज नील की खेती व व्यापार, सरखेज, सिन्ध आदि से होता था, यह तथ्य मात्र इतिहास की पुस्तकों अथवा कुछ जिज्ञासु इतिहास के छात्रों की जिज्ञासा का विषय बनकर रह गया है।

संदर्भ

1. राजस्थान के भरतपुर जिले की एक तहसील।
2. फ्रांसिस पेल्सर्ट, रिमांस त्राती 1696 का अंगेजी अनुवाद मोर लैण्ड, कैम्ब्रिज, 1925, पृ. 10–11, इरफान हबीब, मध्यकालीन भारत, IV, पूर्व आधुनिक भारत में बयाना के नील फैक्टर इक्तिदार आलम खान, पृ. 123
3. के. के. त्रिवेदी अकबर से औरंगजेब तक, (अनुवाद डब्ल्यू एच. मोरलैण्ड), 1997, दिल्ली, पृ. 97

4. विलियम फिंच, 1608–1611, जहांगीर काल का एक अंग्रेज यात्री था। उसने अपने यात्रा वृतांत में नील उत्पादन का पूर्ण वर्णन डच यात्री पेल्सर्ट की भांति हुबहू किया है। वह भी तीन प्रकार की नील की बात करता है और पूरी प्रक्रिया का भी वर्णन करता है। उसने अच्छे नील के चार महत्वपूर्ण गुणों का वर्णन किया है– 1. विशुद्ध फसल 2. शुद्ध बैंगनी रंग 3. सूर्य की रोशनी में चमकने वाला 4. पूर्णतया सूखा व हल्का नील, ताकि जब उसे पानी में डाला जाये अथवा जलाया जाये तो विशुद्ध बैंगनी धुआं उसमें से निकले और राख भी बहुत कम निकले। विलियम फिंच, अर्ली ट्रावेल्स ऑफ इण्डिया, 1583–1619, पृ. 152–154
5. पंत, इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया अण्डर द मुगल्स, 1990, दिल्ली, पृ. 141
6. वही, पृ. 142
7. गांवों के नामों को स्थानीय लोगों के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है क्योंकि नकल करते समय कुछ नामों में गलतियां रह गई होंगी। कुछ सम्भावित नामों को कोष्ठकों में दिया गया है। जैसे बयाना–बियाना के रूप में भी लिखा जाता रहा है जो आगरा के दक्षिण पूर्व में एवं कोटा जाने वाले रेल मार्ग पर अवस्थित है। इसी के आगे करीब 30 किलोमीटर दूर सड़क मार्ग पर हिण्डौन भी आता है। टौरा–टोड़ा भीम भी हो सकता है और खानवा को सम्भवतः धनोवा व धमावा व धनोना भी लिखा गया है। जहांगीरकालीन भारत, भंवर भदानी, पृ. 32
8. जहांगीरकालीन भारत, भंवर भदानी, पृ. 33–34
9. वही, पृ. 34
10. वही, पृ. 31
11. विलियम फोस्टर, द इंग्लिश फैक्टर्स इन इण्डिया, 1620–1635, पृ. 34–35
12. निशान मुगल कालीन आज्ञापत्र को कहते थे।
13. फैक्टरी– मुगल काल में जब विदेशी, यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों को भारत से व्यापार करने की अनुमति मिली तो फैक्ट्ररी वह स्थान था जहां कोई उत्पादन नहीं होता था, वरन् वे एक प्रकार के गोदाम थे जहां व्यापार का सामान रखा जाता था।
14. विलियम फोस्टर, द इंग्लिश फैक्टर्स इन इण्डिया, 1642–1645, पृ. 215

भारत में दलित समुदाय में राजनैतिक चेतना के संवाहक : डॉ. भीमराव अम्बेडकर

डॉ. प्रतिभा*

प्राचीन भारत के कवष ऐलूष[1], तुर कावषेय [2], महीदास ऐतरेय [3], और सत्यकाम जाबाल[4] जैसे कुछेक उदाहरणों को छोड़ दिया जाए, जिन्होंने अपने महान कार्यों और विचारों के कारण तत्कालीन समाज में मान्यता प्राप्त करने के साथ–साथ इतिहास में भी स्थान प्राप्त किया, तो सदियों से विविध प्रकार की शास्त्रीय–धार्मिक निर्योग्यताओं[5] से जकड़ा और अन्य सामाजिक–आर्थिक अधिकारों से वंचित भारतीय समाज का दलित कहा जाने वाला एक बड़ा और महत्वपूर्ण हिस्सा प्राणियों के एकत्व और समानता में विश्वास करने वाले वेदान्त दर्शन को अपराध–बोध से ग्रस्त करने के लिए पर्याप्त है।

प्राचीन काल में महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध के गम्भीर प्रयासों के पश्चात् मध्यकालीन भारत में भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने इस दिशा में अथक प्रयास किए किन्तु सभी भेदभाव समाप्त करके पूर्ण सामाजिक समरसता की स्थापना भारत के लिए एक स्वप्न ही रही।

आधुनिक भारत में भी जातीय आधार पर सामाजिक–आर्थिक शोषण जारी रहे। समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व का दंभ भरने वाले ब्रिटिश शासन में भी जातीय विभेद, सामाजिक असमानता और अस्पृश्यता की घटनाओं के साथ–साथ पीढ़ी दर पीढ़ी शोषण और बेगार के उदाहरण प्राप्त होते हैं। राजाराम मोहन राय के नेतृत्व में सामाजिक सुधारकों की एक पूरी पीढ़ी विभिन्न आन्दोलनों के जरिए वंचित वर्ग के अधिकारों के लिए संघर्षरत रही, किन्तु आधुनिक भारत में दलितों के उद्धार हेतु उनमें चेतना जगाने का जो कार्य भीमराव अम्बेडकर ने किया, वह अविस्मरणीय है।

*आचार्य, इतिहास विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

दलित चेतना हेतु प्रथम प्रेरणा अम्बेडकर को 19वीं सदी के महान समाज सुधारक महात्मा ज्योतिराव फुले (1827 ई.–1890 ई.) से प्राप्त हुई, जिन्होंने शिक्षा के माध्यम से दलितोद्धार का शक्तिशाली आन्दोलन खड़ा किया और 'सत्यशोधक समाज[6] के गठन द्वारा दलित चेतना को नई दिशा दी। राजनैतिक दासता से सामाजिक दासता को अधिक भयावह मानने वाले फुले ने अपने विभिन्न संगठनों और रचनाओं के माध्यम से दलितों में आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान की भावना जगाने का कार्य किया।

स्वाभाविक रुप से अपने गुरु की भांति डॉ. अम्बेडकर भी राजनैतिक स्वतंत्रता से पूर्व सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता लाने के पक्षधर थे। उनके अनुसार सामाजिक सुधार के बिना राष्ट्रीय भावना का विकास नहीं हो सकता। अतः एक प्रकार से अम्बेडकर की राष्ट्रवाद भावना शोषितों, वंचितों एवं दलितों के लिए समान नागरिक अधिकारों हेतु संघर्ष के साथ उदित हुई।

स्वतंत्रता संग्राम के समय सर्वप्रमुख लक्ष्य स्वतंत्रता प्राप्ति था, न कि दलित मुक्ति। यही कारण है कि आजीवन सामाजिक विषमता एवं सवर्ण मानसिकता के विरुद्ध संघर्ष में लगे रहे गांधी जी दलित आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में असहयोग, बहिष्कार अथवा सत्याग्रह जैसा अभियान नहीं चला सके और परिणामतः दलित चेतना हेतु ठोस आधारभूमि नहीं बन सकी।

इस दृष्टि से दलित चेतना, विशेषकर राजनैतिक सहभागिता हेतु दलित चेतना के परिप्रेक्ष्य में दलित नेता के रूप में भारतीय राजनैतिक पटल पर डॉ. अम्बेडकर का उभरना निस्संदेह एक महत्वपूर्ण घटना थी।[7] अम्बेडकर ने सवर्ण हिन्दुओं से दलित वर्ग के न्याय्य अधिकार के पवित्र ध्येय को प्राप्त करने के लिए गांधी के सत्याग्रह के प्रयोग को ही अपनाया, क्योंकि मूल रूप से सत्याग्रह पवित्र साध्य के लिए अहिंसक प्रतिरोध की संकल्पना वाला एक नैतिक अस्त्र ही था, जिसका प्रयोग गांधी जी ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की निर्मम नीतियों के विरुद्ध किया था। पूना का 'महाड़ सत्याग्रह' और नासिक का 'कालाराम मंदिर प्रवेश' सत्याग्रह ऐसे ही कुछ उदाहरण थे।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार प्रजातांत्रिक जीवन के लिए आवश्यक स्वतंत्रता एवं समानता का हिन्दू धर्म में नितान्त अभाव है। उनका स्पष्ट तर्क था यदि दलित हिन्दू समाज का अंग हैं तो उन्हें हिन्दू धर्म में सभी धार्मिक–सामाजिक अधिकार सवर्णों के समकक्ष मिलने ही चाहिए, लेकिन वस्तुस्थिति में ऐसा है नहीं, अतः दलित हिन्दू समाज का अंग ही नहीं हैं। यही नहीं, हिन्दू शास्त्रों के उद्धरणों के आधार पर वे उन्हें शूद्रों के श्रेणी में भी न मानकर पंचम वर्ण के रूप में मानते थे और इस प्रकार अल्पसंख्यक होने के नाते उनके लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र की आवश्यकता स्वीकारते थे।

1919 ई. के प्रारम्भ में लार्ड माण्टफोर्ड सुधारों के संदर्भ में मताधिकार पर विचार कर रही साउथबरो समिति के समक्ष अपने लिखित बयान में प्रथम बार दलितों के जनतांत्रिक अधिकारों की बात करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा – ''भारत में लोकप्रिय सरकार के लिए मताधिकार और निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था करते समय मताधिकार समिति को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह दोनों अर्थात् विचारों के प्रतिनिधित्व और व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करे।[8]

1919 ई. के अधिनियम में पहली बार दलितों के राजनैतिक–संवैधानिक अधिकारों को मान्यता प्रदान की गई और आगे चलकर गवर्नर जनरल द्वारा केन्द्रीय विधानसभा हेतु नामजद 14 गैर सरकारी सदस्यों में से एक प्रतिनिधि दलित वर्ग से भी था। साथ ही प्रान्तीय विधानसभाओं में भी दलित वर्ग को प्रतिनिधित्व दिया गया। निस्संदेह दलित वर्ग की राजनैतिक सहभागिता की, दृष्टि से 1919 का भारत सरकार अधिनियम एक महत्वपूर्ण पड़ाव था, जिससे दलितों के सामाजिक–राजनैतिक आन्दोलन में तीव्रता आई। इस सन्दर्भ में डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि 1920 के पश्चात् दलित वर्गों की प्रगति सामाजिक न रहकर राजनैतिक समस्या बन गई।[9]

1917 से 1935 के मध्य डॉ. अम्बेडकर ने दलितों को राजनैतिक अधिकार दिलाने के लिए अभूतपूर्व प्रयास किए। उन्हें इस तथ्य का ज्ञान था कि राजनीति पर पकड़ होने से सामाजिक विषमताएं दूर की जा

सकती हैं। आगे चलकर उन्होंने कहा भी था कि सारी सामाजिक प्रगति राजनैतिक सत्ता पर निर्भर करती है। राजनैतिक सत्ता सामाजिक प्रगति का द्वार है। अनुसूचित जातियां स्वयं को एक तीसरी पार्टी के रूप में संगठित कर लें और कांग्रेस तथा सोशलिस्ट दोनों विरोधी पार्टियों के बीच में एक तीसरी ताकत बन जाएं तो वे इस राजनैतिक सत्ता को प्राप्त कर अपनी मुक्ति का द्वार खोल सकती हैं।[10]

1928 ई. में साइमन कमीशन का भारत आगमन हुआ। साइमन कमीशन के समक्ष दलित समाज की कुल मिलाकर 18 संस्थाओं ने अपनी गवाही दी। उनमें से 16 संस्थाओं ने दलित समाज के लिए स्वतंत्र निर्वाचन क्षेत्र की मांग की थी।[11] बहिष्कृत हितकारिणी सभा की ओर से दिए गए निवेदन पत्र में डॉ. अम्बेडकर ने 1919 के कानून को दलितों के लिए अन्यायप्रद बताते हुए भारतीय जनसंख्या के इस पांचवें हिस्से के लिए निर्वाचन क्षेत्रों में और आरक्षण के साथ–साथ मंत्रिमंडल में भी दलितों के उचित प्रतिनिधित्व की मांग की। साइमन कमीशन की अनुशंसा पर भारत के विभिन्न दलों के नेताओं को ब्रिटिश सरकार ने गोलमेज परिषद् में भाग लेने के लिए लंदन आमंत्रित किया, जिसमें दलित प्रतिनिधि के रुप में डॉ. अम्बेडकर ने भाग लिया। 12 नवम्बर 1930 में लन्दन में होने वाले प्रथम गोलमेज सम्मेलन में डॉ. अम्बेडकर ने संघात्मक शासन प्रणाली का समर्थन किया, जिसमें भारत के सभी वर्गों के साथ दलितों को भी प्रवेश दिया जाए। गांधी जी उनके इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे। 7 सितम्बर 1931 को दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भी डॉ. अम्बेडकर ने इस बात पर बल दिया कि सभी समुदायों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से सत्ता में सहभाग मिलना चाहिए। उन्होंने पृथक मताधिकार का पक्ष लेते हुए अल्पसंख्यक समझौते का अनुमोदन किया। मई 1932 में काम्टी में हुए अधिवेशन में अखिल भारतीय दलित कांग्रेस ने भी अम्बेडकर का समर्थन किया।

17 अगस्त, 1932 को रैम्जे मैक्डॉनल्ड ने साम्प्रदायिक पंचाट की घोषणा की। इसके अनुसार दलितों को एक अल्पसंख्यक समुदाय के रुप में मान्यता प्रदान की गई तथा उन्हें पृथक मताधिकार का महत्वपूर्ण अधिकार भी दिया गया। उन्हें सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में भी चुनाव लड़ने का अधिकार दिया गया, परन्तु साथ ही यह प्रावधान भी किया गया कि

सीटों का आरक्षण तथा पृथक मताधिकार प्रणाली 20 वर्ष के पश्चात् स्वतः निरस्त हो जाएगी।

इस प्रकार दलितों को एक स्वतंत्र राजनैतिक अस्तित्व प्राप्त होने के साथ साथ भारत के भावी स्वरूप निर्धारण में सहभाग का कानूनी अधिकार भी प्राप्त हो गया।[13] निस्संदेह यह अम्बेडकर की विचारधारा की ही विजय थी। गांधी जी ने अस्पृश्यों को दिए जाने वाले पृथक मताधिकार का विरोध इसे राष्ट्रवाद, हिंदू धर्म और स्वयं दलितों के लिए खतरनाक बताते हुए किया। उन्होंने यहां तक कहा– 'अस्पृश्यों के प्रमुख हितों को तो मैं भारत की स्वतंत्रता के लिए भी नहीं बेचूंगा।'[14] साम्प्रदायिक पंचाट के विरुद्ध गांधी जी ने 20 सितम्बर 1932 को पूना के यरवदा जेल में आमरण अनशन प्रारम्भ किया। वे दलितों को 'पंचाट' में निर्धारित स्थान से अधिक प्रतिनिधित्व देने हेतु तैयार थे, परंतु पृथक नहीं सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों से। अम्बेडकर ने गांधीजी का जीवन बचाने हेतु पूना पैक्ट को स्वीकार किया। इस पैक्ट में संयुक्त निर्वाचन मंडलों को मान्यता दी गई और दलितों के लिए पंचाट से कहीं अधिक 148 स्थान प्रान्तीय परिषदों में आरक्षित किए गए, और केन्द्रीय विधान मंडल में भी 18 स्थान प्राप्त हुए। सार्वजनिक सेवाओं में भी उनके प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई। पूना पैक्ट के बाद संवैधानिक तौर पर 1934 में दलितों को अनुसूचित जाति तथा जनजाति का नाम प्राप्त हुआ।

1935 के एक्ट के अनुसार प्रान्तीय स्वायत्ता स्वीकृत हो गयी और प्रान्तों में चुनाव के बाद सरकारें बनना तय हो गया। डॉ. अम्बेडकर ने दलितों, शोषितों और श्रमिकों को संगठित कर अगस्त 1936 में स्वतंत्र मजदूर दल की स्थापना की। बाद में इसे 'शेड्यूल्ड कास्ट फैडरेशन' का नाम मिला, लेकिन संयुक्त निर्वाचन व्यवस्था के कारण 1937 से लेकर स्वतंत्रता तक अनुसूचित वर्ग के प्रत्याशियों को विजय प्राप्त नहीं हुई।

स्वाधीन भारत के प्रथम अस्पृश्य मंत्री के रूप में भी उन्होंने दलित–वंचित वर्ग की जागृति हेतु प्रयास जारी रखा। स्वतंत्र भारत के नए संविधान निर्माण के समय संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में सविधान में दलित जातियों को न्यायोचित स्थान दिलाने में महत्वपूर्ण

भूमिका डॉ. अम्बेडकर ने निभाई। 26 नवम्बर 1950 को भारतीय संविधान लागू हुआ और सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न लोकतांत्रिक राज्य के रुप में भारत का उदय हुआ। डॉ. अम्बेडकर ने अपने भाषण में भारतीयों से सामाजिक व मनोवैज्ञानिक आधार पर एक राष्ट्र बनने की कामना की तथा जातीय व्यवस्था को समाप्त करने की प्रार्थना की, जो कि सामाजिक व्यवस्था को विघटन के कगार पर ले जाते हुए एक जाति से दूसरी जाति के मध्य ईर्ष्या और विद्रोह पैदा करती है।[14]

इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर को दलितों के सामाजिक उत्थान के भगीरथ प्रयासों के साथ–साथ उनमें राजनैतिक चेतना के बीज–वपन का भी श्रेय दिया जा सकता है। इसके फलस्वरूप दीर्घकाल से विलुप्त आत्मविश्वास को पुनः पा सकने में सफल हुआ दलित समुदाय न केवल आत्मोन्नति के सोपान तय कर रहा है अपितु स्वतंत्र भारत की प्रगति यात्रा में अपने सशक्त हस्ताक्षर भी दर्ज करा रहा है।

संदर्भ

1. ऋग्वेद के 10वें मंडल के पांच सूक्तों के रचयिता और 'दास्याः पुत्र' के रुप में उपहास का पात्र बने ऋषि जिन्होंने 'अपा।–नपात्' के रूप में जल देवता की स्तुति का सूक्त रचने के साथ ही प्रसिद्ध वैदिक द्यूत सूक्त की रचना की।
2. कवष ऐलूष के पुत्र जिन्होंने एक विद्वान के रूप में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त की।
3. ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता
4. जाबाला नामक दासी के पुत्र, जो अपने सत्य और सरल स्वभाव से गुरु हरिद्रुमत गौतम को प्रसन्न कर उनके शिष्य बने और विद्वान के रूप ख्यात हुए।
5. वशिष्ठ धर्मसूत्र, 9.9, मनुस्मृति 4.79, गौतम धर्मसूत्र 15.24 आदि।
6. सत्यशोधक समाज का घोष वाक्य ही था – 'सर्वसाक्षी जगत्पत्ति, नहीं चाहता बिचवई।'

7. आर.एम.एस. विजयी (संपा.) डॉ. अम्बेडकर का कारवां : स्थिति और समीक्षा, दिल्ली, 2001 पृ. 108

8. श्याम सिंह शशि (संपा.) बाबा साहेब अम्बेडकर वाङ्मय, खण्ड–2, नई दिल्ली, 1998, पृ. 19–20

9. आर.एम.एस. विजयी, डॉ. अम्बेडकर का कारवां : स्थिति और समीक्षा, दिल्ली, 2001, पृ. 109, 110

10. वही, पृ. 110

11. सूर्य नारायण रणसुमे, डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर, दिल्ली, 2001, पृ. 52

12. डॉ. विष्णु भगवान, राजनैतिक विचारक, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, पृ. 225

13. अम्बेड़कर, व्हॉट कांग्रेस एंड गांधी हैव डन टू द अनटचेबल्स, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 61

14. डॉ. एम.सी. जोशी, गांधी, नेहरू, टैगोर तथा अम्बेडकर, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ. 133

मेवाड के सिक्कों के अनछुए तथ्य

डॉ. पंकज आमेटा*

मेवाड़ एक भू–राजनैतिक इकाई के रूप में सातवीं–आठवीं शताब्दी में प्रकट हुआ। मेवाड़ की भौगोलिक स्थिति का उल्लेख वराहमिहिर की वृहत्संहिता में मिलता है। इस क्षेत्र में गुहिल सीसोदिया पश्चिम के राज्यवंशों में सर्वाधिक प्राचीन राजवंश ने शासन किया। प्रारम्भ में मेवाड़ के गुहिल राजवंश की राजधानी आघाटपुर, नागदा, चित्तौड आहड, उदयपुर, चावण्ड आदि रही हैं। मेवाड़ के सिक्कों के बारे में विभिन्न दृष्टिकोण निम्न हैं–

कविराजा श्यामलदास प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने इस विषय पर लिखा। उन्होंने गुहादत्त एवं गुहिल के सिक्के के बारे में लिखा और उन्होंने बताया कि गुहिल की राजधानी को आगरा तक फैली हुई थी। गोपीचन्द ओझा भी श्यामलदास का अनुसरण करते हैं और वे कहते हैं कि इन्होने सिक्के ढलवाये। मेवाड़ में निर्विवाद रूप से इण्डोससेनियन सिक्के लम्बे समय तक प्रचलन में रहे, यह सिक्के शुद्व चॉदी, तांबा व मिश्रित धातुओं में ढले हुए प्राप्त होते हैं। आजादी तक हमे ये कुछ विकृत रूप में बाजार में उपलब्ध थे, अकबर के आक्रमण के समय भी ये सिक्के प्रचलन में थे। गधिया सिक्के मेवाड़ में अत्यन्त सामान्य रूप से प्रचलन में थे ये चॉदी व तांबे में ढाले गये। चित्तौड दुर्ग की तलेटी व आहड़ में उत्खनन से प्राप्त हुए है, कुछ गधिया सिक्कों पर ससेनियन देवी के स्थान पर देवनागरी में कुछ लिखा हुआ है। गधिया सिक्कों का प्रचलन मेवाड़ में छठी शताब्दी से माना गया है। ठेकेदार/राजकीय अधिकारियों द्वारा टंकित।

गुहिल आघाटपुर अभिलेख विक्रम संवत 1034 (महत्वपूर्ण क्षेत्र) चित्तौड़ का अभिलेख विक्रम सवंत 1331, आबू का अभिलेख विक्रम संवत्

*सहायक आचार्य, इतिहास विभाग, भूपाल नोबल्स विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

1342, रणकपुर अभिलेख विक्रम सवंत् 1496, कुम्भलगढ अभिलेख विक्रम संवत् 1517 में गुहिल का उल्लेख आता है और 1869 ईस्वी में आगरा से 2000 से अधिक चॉदी के सिक्के मिले जिन पर श्री गुहिल लेख मिलता है। कनिंघम ने भी श्रीगुहिलपति लेख का सिक्का नरवर (नरवर कई हैं नरवर ग्वालियर का, नरपुर मूगलों के समय का पुर नगरों में परिवर्तित हुआ) से प्राप्त होना बतलाया है। सिक्कों का इतनी मात्रा में एक जगह से मिलना कई नये प्रश्नों को जन्म देता है। जैसे गुहिल का राज आगरा के आस–पास के क्षेत्रों पर रहा या गुहिल एक उपाधि है आदि।

नन्दी एवं अश्वरोही प्रकार की मुद्राओं को पहले राहप (39 वॉ शासक) के साथ जोड़ा गया फिर बाद में उसे हम्मीर (52वें शासक) से संबंधित किया गया।

मेवाड़ के महाराणा मोकल का सिक्का अभी नौशाद मन्सूरी के संग्रह में पाया गया। अभिलेखों में भी मोकल का महाराजाधिराज (इस क्षेत्र में अश्वमेघ यज्ञ की कई परम्पराएँ रही हैं वह महाराजधिराज उपाधि उस समय दी जाती थी। नगरी के आसपास यह क्षेत्र हैं) कहा गया। यह तांबें का सिक्का 5.720 ग्राम वजनी है। इसके आगे–पीछे के भाग पर देवनागरी में मो क अक्षर उत्कीर्ण है। आकार में बहुत छोटा होने से सामान्य सिक्का प्रतीत होता है।

महाराणा मोकल का सिक्का

राणा कुम्भा जो 1418–1468 ईस्वी तक राजसिंहासन पर रहा उसने अपने नाम पर टंगका नामक सिक्के ढाले। वेव महोदय के अनसार उसने कुछ सिक्के ई. 1450 में मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी को भेंट किये। कनिंघम ने भी कुम्भा के दो सिक्कों का उल्लेख किया है। दोनों सिक्के कौकर एवं अलग–अलग तोल के हैं तथा सिक्कों पर 1510 व 1526 तिथियाँ बतलाई गई हैं। प्राप्ति स्थान– सबसे अधिक मतभेदजनक हैं। मंदसौर क्षेत्र से प्राप्त होने की सम्भावना हैं। कुम्भा के कुछ सिक्के मेरी नजर में भी आये और जब संग्राहकों से पूछा गया कि ये सिक्के कहॉ से प्राप्त हुए तो उन्होंने बतलाया कि ये सिक्के चित्तौड़ के आस–पास एवं सारंगपुर से प्राप्त होना बतलाया है। ऐसा पूर्ण सम्भव प्रतीत होता है कि कुम्भा के समय चित्तौड़गढ में टकसाल रही होगी। चित्तौड़गढ का विजय स्तम्भ जो कि सामरिक एवं सांस्कृतिक महत्व रखता है यह स्तम्भ कुम्भा ने अपनी सांस्कृतिक विरासत दर्शाने हेतु बनाया था। राजस्थान के 82 किलों में से 32 किलों का निर्माण कुम्भा ने करवाया यह सामरिक महत्व दर्शाता है परन्तु टकसाल के लिये आर्थिक व व्यापारिक बाजार होना आवश्यक है। उसके काल में चित्तौड मेवाड़ की सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक शिक्षा का केन्द्र रहा। प्राचीनकाल से मन्दिर शिक्षा के केन्द्र रहे। शिक्षा हर क्षेत्र में दी जाती थी। प्राचीनकाल से ही चित्तौड़गढ (11 किलोमीटर दूर नगरी, मझमिका शहर) प्रसिद्ध रहा। सांस्कृतिक राजधानी चित्तौड़गढ रही। कुम्भा ने विजय स्तम्भ की स्थापना इसी सन्दर्भ से की।

अकबर के चित्तौड़ आक्रमण व विजय के समय अकबर ने चित्तौड़ टकसाल से सिक्के ढाले।

मेवाड़ के प्राचीन सिक्के

मेवाड़ में तीन टकसाले रहीं। वेव के अनुसार चित्तौड़ की टकसाल महाराणा अमर सिंह प्रथम के समय स्थापित हुई। श्यामलाल भी लिखते हैं कि महाराणा ने अपनी राजधानी के नाम पर बादशाह को फारसी लिपि में उत्तीर्ण नाम से युक्त मुद्रा प्रचलित करने की अनुमति ली थी।

उदयपुर टकसाल की स्थापना संवत् 1770 (1714 ई.) में महाराणा साहब के कायस्थ मंत्री पंचोली बिहारी दास के माध्यम से फर्रुखसियर की दरबार में उसे इस कार्य के निमित्त भेजकर प्राप्त की गई थी।

भीलवाडा–टकसाल की स्थापना शाह आलम के समय हुई होगी। भीलवाडा राजपूताने की सबसे बडी मण्डी रही है। टॉड ने उसका पुनर्निर्माण किया व व्यापारिक महत्व को स्थान दिया। ये जितनी भी टकसाले हैं उनका उल्लेख श्यामलदास ने वीरविनोद, वेब महोदय व टॉड महोदय ने किया हैं। सिक्के स्वर्ण, चॉदी व मिश्रित धातुओं में देखने को मिलते हैं। महाराणा अमरसिंह के काल में जहॉगीर की एक ताम्र मुद्रा जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, 1895 में छपी, उस पर टकसाल का नाम उदयपुर दिया गया।

1857 की क्रान्ति के बाद सम्पूर्ण भारत का प्रबन्ध ब्रिटेन की महारानी के हाथों आ गया तो उसका असर मेवाड़ पर भी पड़ा। यहाँ शासकों ने अपने वंश की स्वतन्त्रता एवं आत्मगौरव का ध्यान रखते हुए ब्रिटिश आधीनता न स्वीकार करते हुए उनसे दोस्ती का हाथ मिलाया व उसके इस उपलक्ष्य में चित्रकूट–उदयपुर दोस्ती लन्दन सिक्कों को ढाला गया।

स्वरूप सिंह महाराणा के समय स्वर्ण मुद्रा में स्वरूपशाही मोहर–मुद्राएँ चलीं जिन्हें चान्दोड़ी कहा गया। जो स्वर्ण की थी। रजत मुद्राओं में चित्तौड़ी सिक्के शाहआलम 1707–1712 ई. के समय जारी किये गये।

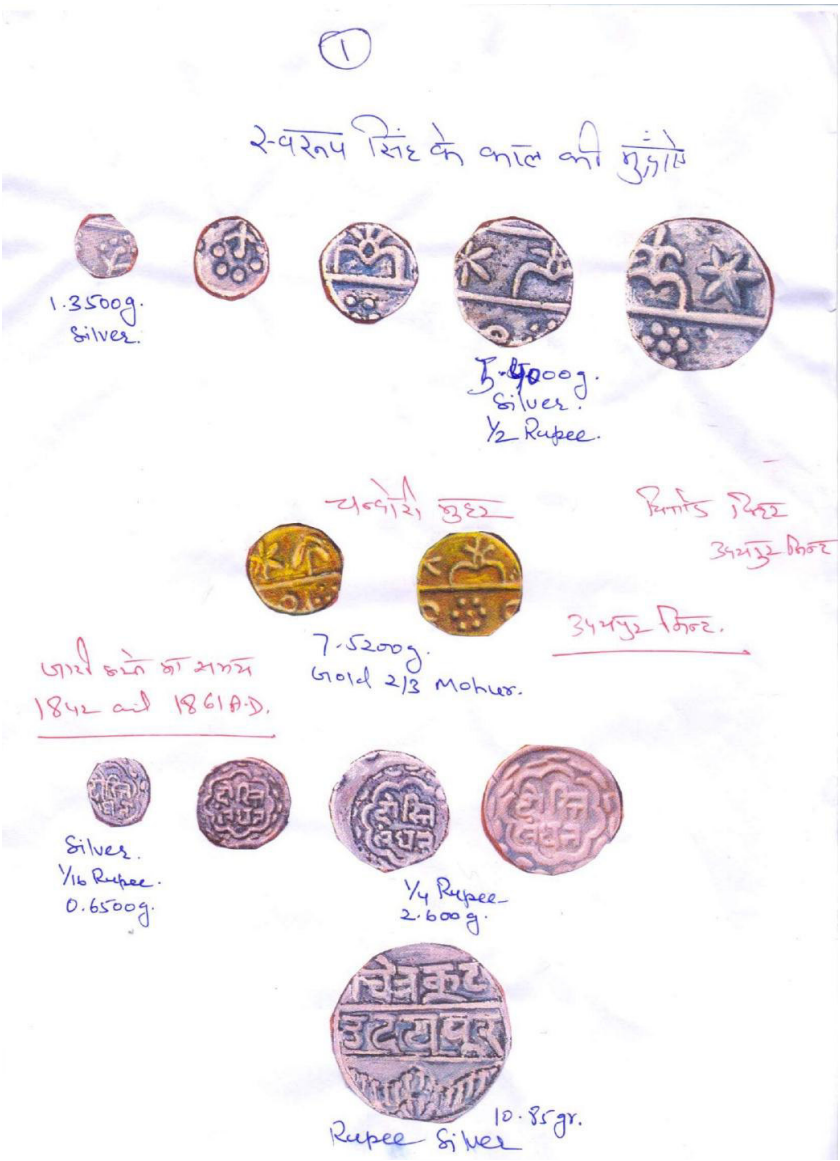

स्वरूपसिंहकालीन मुद्राएँ

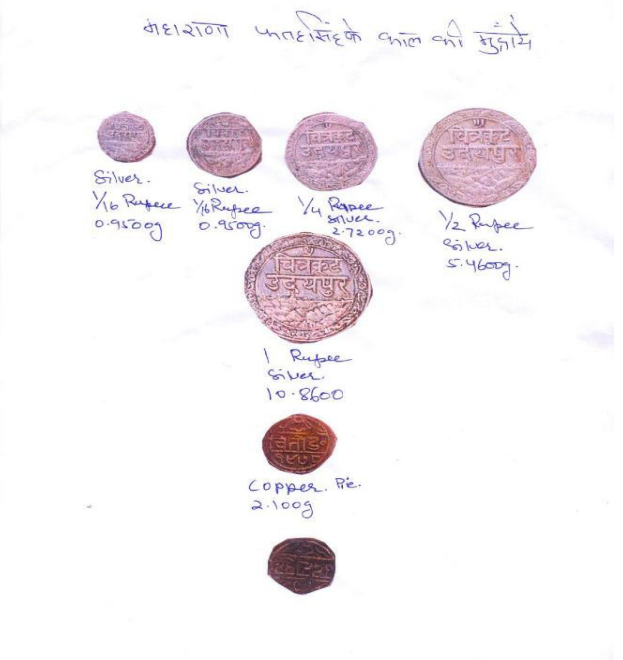

फतहसिंह कालीन मुद्राएँ

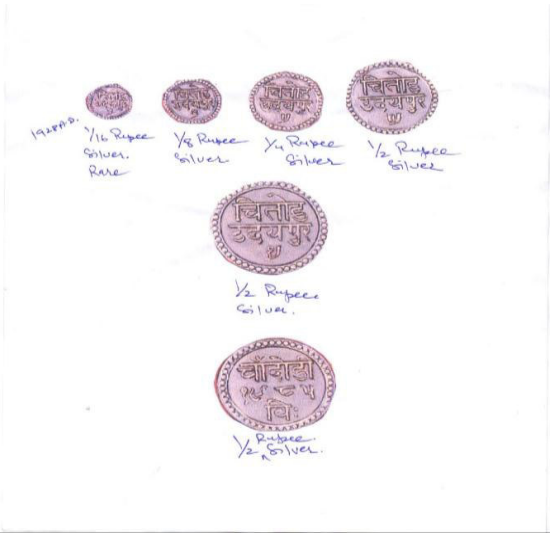

चांदोड़ी सिक्का

¼ Anna.
2.200 g. Copper.

½ Anna
3.500g.
Copper.

ANNA.
4.3000 g.
Copper.

महाराणा भूपाल सिंह द्वारा जारी की गई मुद्रा

चित्रकूट

Chitarkot

उदयपुर

Udaipur

And on obverse

Struck at the Udaipur mint between ca. 1780 to the middle of the 19th century w/fictitious mint epithet: *Dar al-Khilafat Shs-hjahanabad.*

on obverse on reverse

Mint marks:

Ordered y Bhim Singh, and struck at the Udaipur Mint until 1842AD. Recalled by Swarup Shah.

on obverse on reverse

Mint marks:

Struck at the Udaipur Mint between 1842-1890AD. Many die varieties exist.

on obverse

NOTE: All Mewar coinage is struck without ruler's name, and is largely undated. Certain types were generally struck over several reigns.

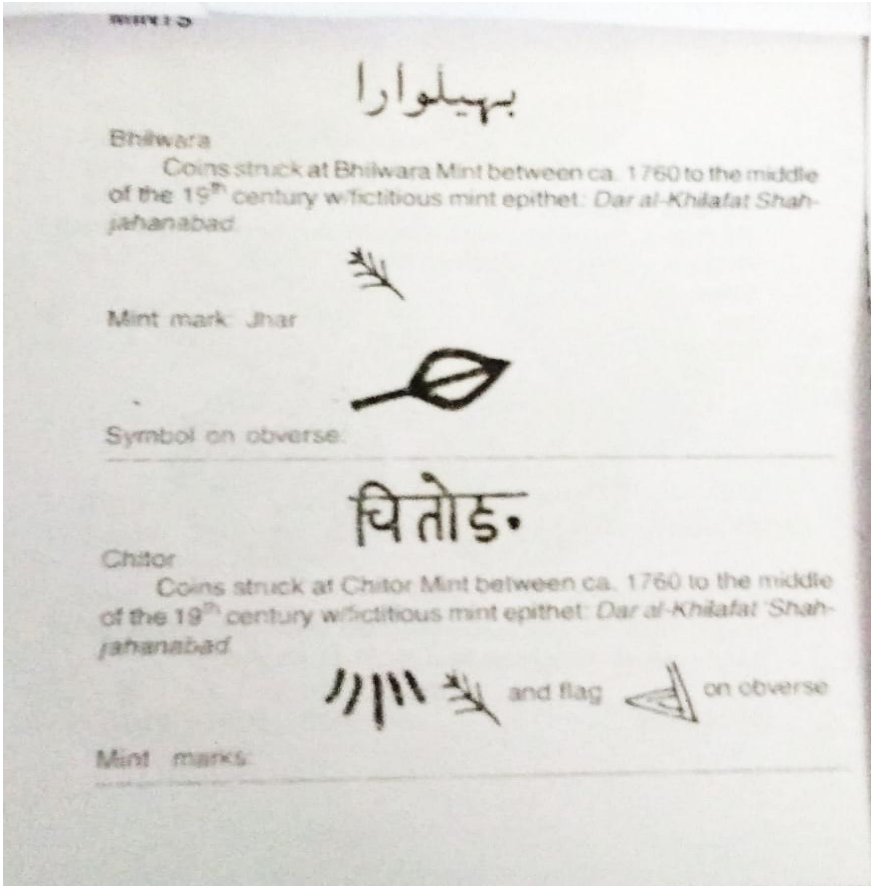
بهیلوارا

Bhilwara

Coins struck at Bhilwara Mint between ca. 1760 to the middle of the 19th century w/fictitious mint epithet: *Dar al-Khilafat Shah-jahanabad*

Mint mark: Jhar

Symbol on obverse:

चितोड़

Chitor

Coins struck at Chitor Mint between ca. 1760 to the middle of the 19th century w/fictitious mint epithet: *Dar al-Khilafat Shah-jahanabad*

and flag on obverse

Mint marks:

उदयपुर के सिक्के संग्राम सिंह के समय ढाले गये, वहीं रजत चन्दोरी सिक्के भीम सिंह के समय चित्तौड़ व उदयपुर टकसाल से ढाले गये।

ताम्र मुद्राएँ : ढिंगला पैसा प्रारम्भ में पुराने ससेनियन सिक्के, तिथि रहित सब आकार में प्राप्त उदयपुर टकसाल से जारी किये गये सिक्के प्राप्त होते है। त्रिशूल के कारण ये चित्तौड़ के सुनारों द्वारा बनाये गये सिक्के थे। भीलवाड़ा पैसा भीलवाड़ा टकसाल से बना तथा ये अलग–अलग आकार व वजन के प्राप्त होते हैं।

मेवाड़ के सामन्तों ने भी अपने क्षेत्र में सिक्के ढाले। मेवाड़ के शासकों की पकड़ क्षेत्र में जब कमजोर हुई तब अपनी प्रभुसत्ता को कायम करने के लिये इन्होंने कुछ सामन्तों को अपने क्षेत्र में सिक्के ढालने का अधिकार दिया। सलुम्बर, भिण्डा (भीण्डर), शाहपुरा ठिकाना इसके प्रमाण हैं। अन्य राज्यों/ठिकानों ने भी अपनी–अपनी मुद्राएँ ढालीं।

मेवाड़ में सिक्कों का अध्ययन हमें क्षेत्र, लोगों, अर्थव्यवस्था एवं शाासकों के न्यूनतम सीमाओं के संदर्भ में करना चाहिये। परिणाम स्वरूप धात्विक आवश्यकता एवं उपलब्धता, सिक्कों के बारे में लेखों के संदर्भ में शहरीकरण के स्तर, व्यापार, कर–निर्धारण वास्तु, शिल्पियों की गतिविधियों के विकास, शासकों द्वारा सिक्कों की ढलाई, शासकों द्वारा सिक्कों के वर्गीकरण एवं शिक्षा, व्यवसाय एवं व्यापार के प्रमुख केन्द्रों को दृष्टिकोण रखते हुए करना चाहिए।

मेवाड़ प्राचीनकाल से अपना सामरिक महत्व रखे हुए है। सिक्कों का अध्ययन और मेवाड़ में उसकी ढलाई मौलिक रूप से वहाँ के लोगों की प्रकृति, आर्थिक स्थिति तथा क्षेत्रों में शहरीकरण प्रक्रिया से संयुक्त है विकसित अर्थ व्यवस्था एवं शहरीकरण, धार्मिक शिक्षा केन्द्रों के आंकडों को देखते हुए सिक्कों की ढलाई व निर्माण का अध्ययन करना चाहिये। चित्तौड़, उदयपुर व भीलवाडा में शासकों द्वारा सिक्कों की ढलाई करने हेतु टकसाल इसके जीवित उदाहरण हैं। ये तीनों शहर इन सिद्वान्तों की पूर्ति करते हैं।

संदर्भ

1. रजनी कोठारी, भारत में राजनीति, पृष्ठ–29,57,68
2. सम करेक्टरिस्टिक्स ऑफ दी इण्डियन कॉन्सटिट्यूशन–लंदन ऑक्सफोर्ड 1953
3. गुरुमुख निहाल सिंह, भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास।
4. सम्पत्ति का अधिकार अधिनियम संविधान 44वें संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा मूल अधिकारों से निकाल दिया गया।

5. कॉन्सटिट्यूशन गवर्नमेन्ट इन इण्डिया

6. कांग्रेस बुलेटिन 1968,69,70

7. उदय प्रकाश, नई सदी का पंचतन्त्र

अन्य सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कनिगम : कांईस आफॅ मिडावल इण्डिया,नई दिल्ली।

2. कनिगम : पुरातत्व सर्वेक्षण रिपोर्ट जिल्द–6

3. गोपाल ललन जी : इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ नर्दन इण्डिया दिल्ली 1965

4. ललन जी दशरथ शर्मा : राजस्थान थ्रू दी एजेस,बीकानेर 1966

5. आर.नाथ : चित्तौड़गढ कितीस्तम्भ ऑफ महाराणा कुम्भा,नई दिल्ली

6. यू. एन. डे : मेवाड़ अन्डर महाराणा कुम्भा

7. जर्नल ऑफ एकेडमी ऑफ इण्डियन न्यूमिस्मेटिक्स एण्ड सिग्लियोयग्राफी, इन्दौर अंक–2

8. चन्द्रकांत तिवारी : मालवा की गौरी सल्तनत

9. डॉ.पंकज आमेटाः मालवा के परमार शासकों की राजस्व व्यवस्था

10. हरिहर त्रिवेदी, विठ्ठलःकार्पस इन्स्क्रीप्शन इंडिकेरम,जिल्द 1 से 6

11. विलयम विलफ्रिड वेबःद करन्सी ऑफ द हिन्दु स्टेटस् ऑफ राजपूताना

स्वतन्त्रता सेनानी– मोतीलाल तेजावत

डॉ. हेमेन्द्र चौधरी*

दक्षिणी राजस्थान की जनता एवं शासक वर्ग स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए उसके सजग प्रहरी जननायक महाराणा प्रताप से प्रेरित रहे। इसी कारण अरब, तुर्क मुगल, मराठा, पिण्डारी व ब्रिटिश सत्ता के साथ संघर्ष में यह क्षेत्र अग्रणी रहा। यदि सत्ता ने इस मामले में कोताही बरती तब आमजन में स्वतन्त्रता का झण्डा अपने हाथों में ले लिया। 1857 ई. की क्रान्ति में जनता ने अंग्रेज विरोधी भावनाओं को प्रकट कर, राष्ट्रीय स्तर के क्रान्तिकारियों की यथासंभव सहायता की। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मेवाड़ को अपनी कर्मस्थली बना कर राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक जागृति का कार्य शुरू किया। इनसे प्रभावित गोविन्द गिरी ने दक्षिणी राजस्थान में सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना का कार्य किया।

तरुण राजस्थान

राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्र

वर्ष ४ । अजमेर, मंगलवार ज्येष्ठ कृष्णा ८, तारीख २४, मई सन् १९२७ ईस्वी । संख्या ४३

मेवाड़ी दमन नीति का मुंहतोड़ उत्तर

पूर्व मेवाड़ में श्री पथिकजी का अपूर्व स्वागत

सत्याग्रह का निश्चय, सिंह दल की स्थापना

(चित्र स. 1)

केसरी सिंह बारहठ ने ब्रिटिश सरकार की दासता की खुले आम भर्त्सना कर महाराणा फतेहसिंह को दिल्ली दरबार के सम्मिलित होने से रोका। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बिजोलिया आन्दोलन के कर्णधार विजय सिंह पथिक, साधु सीताराम दास एवं

*सह आचार्य, माश्रम, जनार्दन राय नागर राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

माणिक्यलाल वर्मा ने आन्दोलन को राष्ट्रीय किसान आन्दोलन में परिणत कर राष्ट्रीय आन्दोलन में किसान एवं आदिवासी वर्ग को जोड़ने का मार्ग दे दिया। **(चित्र स.1)**

तत्पश्चात् एकी आन्दोलन के प्रवर्तक मोतीलाल तेजावत ने 1921 ई. में जनता को सीधे सरकार से अपने अधिकारों हेतु लड़ने एवं छीनने हेतु जाग्रत किया। मोतीलाल तेजावत ने मगरा एवं मेवाड़ के किसानो एवं आदिवासियों में एकता स्थापित कर सीधे संघर्ष के लिए प्रेरित किया। इस जागृति का परिणाम 1938 ई. में नजर आता है जब राजनैतिक संगठन मेवाड़ प्रजामण्डल की स्थापना हुई, तब मेवाड़ के स्वतन्त्रता के पुजारियों ने 1938 ई. के सत्याग्रह आन्दोलन, 1942 ई. के भारत छोड़ो आन्दोलन, संवैधानिक सुधारों एवं उत्तरदायी शासन हेतु आन्दोलन कर मेवाड़ को स्वतन्त्रता के आन्दोलन में सबसे अग्र पंक्ति में खड़ा कर दिया।

मोतीलाल तेजावत

मोतीलाल तेजावत का जन्म आदिवासी बहुल पर्वतीय क्षेत्र भोमट के गाँव कोल्यारी में ओसवाल परिवार में हुआ। कोल्यारी के पास स्थित एक सामन्ती गाँव झाड़ोल के जागीरदार के यहाँ 26 वर्ष की आयु में कामदार के रूप में काम करना आरम्भ किया। उस समय किसानों से बेगार ली जाती थी। कामदार होने की वजह से उन्हें मेवाड़ में कई स्थानों पर जाने का मौका मिला। अपने अनुभव के आधार पर स्वयं तेजावत ने अपने संस्मरण में लिखा है कि उस समय अधिकारी, सिपाही, सेना सभी शत प्रतिशत जुल्म करते थे। सिफारिश, घूसखोरी और मौखिक आदेश को ही कानून समझते थे। उन अत्याचारी अधिकारी और उनके जुल्मों से परेशान गरीब जनता कुछ बोल नहीं सकती थी, चारों तरफ अंधेरगर्दी थी।

तेजावत के अनुसार प्रशासन उन गतिविधियों से पूर्णतः परिचित था, किन्तु जनता को उनसे न्याय नहीं मिला था। खालसा क्षेत्र में किसान अधिकारियों, थानेदारों व हवलदारों से परेशान था तो जागीरी जनता जागीरदारों के जुल्मों से परेशान थी। जनता से घूसखोरी और लाटा–कुंता लिया जाता था। इस प्रकार के जुल्म उनसे नहीं देखे गये और उन्होंने नौकरी छोड़ दी।

तेजावत ने आदिवासियों को इन जुल्मों से मुक्ति दिलाने के लिए एकी आन्दोलन की शुरुआत मेवाड़ के धार्मिक स्थल मातृकुण्डियाँ से की। इसका उद्देश्य अशिक्षित आदिवासियों और किसानों में पूर्ण एकता स्थापित करना था तथा किसी भी स्थिति में निश्चित लगान से तनिक भी ज्यादा नहीं देना था।

मातृकुण्डिया के मेले में आये हजारों किसानों को उन्होंने जागीरदारों के प्रचलित अत्याचारों से अवगत कराया और उन्हें संगठित होकर संघर्ष करने के लिए आह्वान किया। वहाँ सभी गाँव के पंचों ने निर्णय लिया जब तक इस अन्याय व अत्याचार की पूरी जानकरी महाराणा को नहीं देंगे, तब तक कोई भी किसान राज्य को लगान का भुगतान नहीं करेगा तथा प्रत्येक गाँव में एक संगठन का गठन किया जाएगा। इसके अतिरिक्त छोटे–छोटे पर्चे लिखकर प्रत्येक गाँव भेज दिये गये, जिसमें सभी लोगों को आज्ञा के पालन हेतु वचनबद्ध किया गया। इन पर्चों से गाँव–गाँव में जागृति एवं लोगों में जागीरी जुल्मों के खिलाफ एक होने के उत्साह का संचार हुआ। कुछ पर्चे भील आदिवासी क्षेत्र सराड़ा भी भेजे गये।

तेजावत ने आन्दोलन की शुरुआत भोमट के झाड़ोल व फलासिया से की। सर्वप्रथम पड़ोस के पाँच गाँवों को अपने आन्दोलन के अन्तर्गत लिया। धीरे–धीरे आन्दोलन गुप्त रूप से बढ़ता गया। बढ़ते जन समूह की प्रथम बैठक ज्येष्ठ कृष्णा–14, सन् 1921 ई. को बदराना में हुई, जिसमें अनेक गाँवों के 500–700 के पंच इक्ट्ठे हुए। यहाँ इन सबके बीच एकी स्थापित हुई और लगान नहीं देने का निर्णय लिया गया। इस बैठक ने आदिवासियों और किसानों का उत्साह चौगुना कर दिया। बिचौलियों ने आन्दोलन में दरार डालने की कोशिश भी की। इसी क्रम में ज्येष्ठ शुक्ला संवत् 1978 (1923 ई.) का बदराना में श्री हरिहर महादेव मन्दिर में दूसरी बैठक हुई। इस बैठक में आदिवासियों के साथ महाजन एवं ब्राह्मण भी थे, सभी की कुल संख्या 1000–1200 थी। यहाँ पर एकी स्थापित कर, लगान न देने का वचन लिया। इस बैठक में खालसा क्षेत्र में आन्दोलन का प्रसार का निर्णय लिया, जिसमें 42 व्यक्ति की एक समिति उदयपुर पहुँची।

झाड़ोल से यह 42 व्यक्तियों का प्रतिनिधि दल रवाना हुआ। इनका जगह–जगह जोरदार स्वागत किया गया। यह दल नाई गाँव के नांदेश्वर महादेव के स्थान पर पहुँचा, जहाँ असीरगढ़ के प्रतिनिधि भी इसमें शामिल हो गये, यहाँ तेजावत को अपना नेता मानकर सभी ने पूर्ण विश्वास व्यक्त किया। उदयपुर पहुँच कर खालसा क्षेत्र का नेतृत्व करने वाले गोकुल पटेल से मिले। गोकुल पटेल ने मातृकुण्डिया से लेकर अभी तक कार्यवाही से परिचित होकर एकी आन्दोलन का स्वागत किया और केशरगढ़ी के जाटों से एकी स्थापित करवायी और मेवाड़ के खालसा और आदिवासी क्षेत्रों में लिखित एकता हो गयी। इस वचन का आदान–प्रदान हो गया कि दोनों ही पक्षों में कोई भी पीछे हटने वाला नहीं होगा। यदि किसी ने विश्वासघात किया तो पंच उसके विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही करेंगे। बैठक में यह भी निर्णय लिया गया कि आदिवासियों व किसानों पर होने वाले अत्याचारों, अन्यायों एवं कष्टों की गाथा मेवाड़ महाराणा को प्रस्तुत किया जाये तथा तय किया गया कि आषाढ़ कृष्णा ग्यारस को सभी पंचों को अपने ऊपर होने वाले अन्याय व अत्याचारों के सभी बिन्दुओं का एक ज्ञापन लेकर एकत्रित होना है। तेजावत बैठक के पश्चात् घासा गाँव पहुँचे, यहाँ से मातकला गाँव पहुँचे, यहाँ गिर्वा के 4–5 हजार किसान भोज के लिए एकत्रित हुये, यहाँ पर एकी स्थापित कर सबको उदयपुर पहुँचने का निमन्त्रण दे, तेजावत कैलाशपुरी पहुँचे, कैलाशपुरी के ग्रामवासियों एवं मन्दिर के गोस्वामी महाराज से मिले तथा एकलिंग जी से एक पुष्प आशीर्वाद स्वरूप प्राप्त किया।

उदयपुर पहुँचकर किसानों व आदिवासी भीलों के प्रतिनिधियों ने महाराणा के राजमहल के निकट पिछोला झील की बड़ी पाल पर डेरा डाला। तीन–चार दिनों में वहाँ सात–आठ हजार किसान इकट्ठे हो गए। गाँव–गाँव से आने वाले पंच एवं प्रतिनिधि अपने साथ लिखित रूप से अन्याय व अत्याचारों का सप्रमाण विवरण लाए। तेजावत ने लाए गए विवरण पत्रों के सही–सही बिन्दुओं का सारांश लेकर एक पुस्तिका लिखना प्रारम्भ किया जिसे उन्होंने "मेवाड़ पुकार" की संज्ञा दी। तेजावत रात्रि में लेखन कार्य निपटा लेते और प्रतिदिन प्रतिनिधियों की बैठक में उसे सुना देते थे। इस पुस्तिका में मेवाड़ की जनता के शोषण एवं उत्पीड़न का

क्रमवार विवरण दिया गया। किसानों एवं आदिवासी भीलों के दुःख–दर्द एवं कष्टों का व्यवस्थित ढंग से ब्यौरा इस पुस्तिका में दिया गया। महाराणा को प्रस्तुत करने के लिए तैयार की जा रही इस पुस्तिका में रिश्वतखोरी, अनुचित लाग–बागों, शारीरिक यातनाओं एवं जनता के विविध कष्टों का सप्रमाण एवं नामजद ब्यौरा दिया गया। इस पुस्तिका में करीब एक सौ कलमें हो गई थीं। तीन दिनों में "मेवाड़ पुकार" पुस्तिका तैयार हो गई। अब सभी प्रतिनिधियों व पंचों ने पुस्तिका की विषय–वस्तु पर अपनी सहमति दे दी। इसके पश्चात् श्री तेजावत ने उस पर कुछ प्रमुख पंचों के हस्ताक्षर अथवा अंगूठे के निशान ले लिए। पुस्तिका की प्रामाणिकता के लिए ऐसा करना आवश्यक था। उपर्युक्त एक सौ कलमों के आधार पर 21 सूत्री माँगपत्र तैयार किया गया।

अधिकारियों तथा जागीरदारों ने आन्दोलन को खत्म करने का षड्यन्त्र रचा और "मेवाड़ पुकार'' पुस्तिका एवं ज्ञापन को महाराणा तक नहीं पहुँचने देने के लिए पुलिस विभाग के हाकिम अमर सिंह राणावत से सहायता मांगी। राणावत ने तेजावत एवं अन्य को किसानों को बहलाने एवं फुसलाने का प्रयास किया, परन्तु देशभक्त आदिवासियों के चिन्तक अपने लक्ष्य से तनिक भी विचलित नहीं हुए और इस घटना से बड़ी पाल पर सभी प्रतिनिधियों को अवगत भी करवा दिया। महाराणा को तेजावत व प्रतिनिधियों ने अनुचित लगान लाग–बाग एवं बेगार से सम्बन्धित 21 मांगों का ज्ञापन दिया। महाराणा ने इनमें से 18 मांगें तुरन्त स्वीकार कर लीं, किन्तु तीन मांगें अस्वीकृत कर दीं, जो वन सम्पदा, बैठ बेगार एवं सूअरों से सम्बन्धित थीं। इन मांगों को तेजावत ने जनता को स्वयं अपने अधिकार से स्वीकार करने की अपील की और निर्णय लिया कि इन मांगों से सम्बन्धित राज्यादेशों का जनता पालन नहीं करेगी।

तेजावत का यह एकी आन्दोलन सफल रहा। इस अभियान से आदिवासी भीलों व किसानों में दमन एवं उत्पीड़न का प्रतिकार करने की शक्ति एवं साहस का संचार हुआ। इस एकी आन्दोलन ने जन चेतना और अन्तस पर छाये कोहरे को हटाने में बड़ा योगदान दिया। इस आन्दोलन के पश्चात् तेजावत ने अपना जन–जागरण का अभियान तेज कर दिया। उनकी इस प्रसिद्धि से ईर्ष्यावंश और आदिवासियों में फैली जन जागृति से

खफा झाड़ोल के कुबेर सिंह व कोल्यारी के कमाल खां ने उन्हें मारने का प्रयास भी किया। धीरे–धीरे यह आन्दोलन सिरोही, दौसा, पालनपुर, ईडर, विजय नगर आदि रियासती जनता में फैल गया। विजय नगर में सरकार एवं जनता के बीच लगान व बेगार को लेकर सुलह की बात चल रही थी, तो मिलिट्री ने फायरिंग की, जिसमें 1200 व्यक्ति मारे गये, तेजावत के भी पाँव में गोली व छर्रे लगे। भील उसी समय उन्हें उठाकर भूमिगत हो गये जो 1929 ई. तक अर्थात 8 वर्ष तक गुप्त रहे। 1929 ई. में गाँधी जी के निर्देश पर ईडर रियासत के खेड़ब्रह्मा गाँव में स्वयं को गिरफ्तार करवाया। (चित्र स. 2) मेवाड़ सरकार ने तेजावत को 6 अगस्त, 1929 ई. से 23 अप्रैल, 1936 ई. तक सात वर्ष की सजा सुनायी।

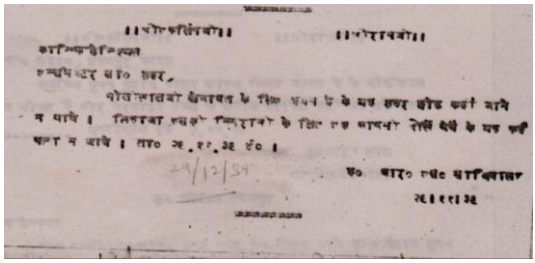

(चित्र स. 2)

18 नवम्बर, 1935 ई. को अखिल भारतीय देशी राज्य परिषद के सचिव मणिशंकर त्रिवेदी ने प्रधानमंत्री मेवाड़ सरकार को पत्र लिखकर मोतीलाल तेजावत को रिहा करने का अनुरोध किया। (**चित्र स. 3**)

(चित्र स. 3)

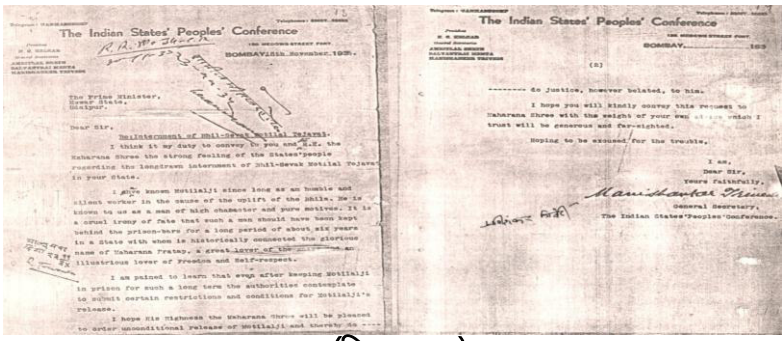

The Indian States' Peoples' Conference

BOMBAY 18th November 1935.

The Prime Minister,
Mewar State,
Udaipur.

Dear Sir,

Re: Internment of Bhil-Sevak Motilal Tejawat.

I think it my duty to convey to you and H.H. the Maharana Shree the strong feeling of the States' people regarding the longdrawn internment of Bhil-Sevak Motilal Tejawat in your State.

I have known Motilalji since long as an humble and silent worker in the cause of the uplift of the Bhils. He is known to us as a man of high character and pure motives. It is a cruel irony of fate that such a man should have been kept behind the prison-bars for a long period of about six years in a State with whom is historically connected the glorious name of Maharana Pratap, a great lover of the [illegible] an illustrious lover of Freedom and Self-respect.

I am pained to learn that even after keeping Motilalji in prison for such a long term the authorities contemplate to submit certain restrictions and conditions for Motilalji's release.

I hope His Highness the Maharana Shree will be pleased to order unconditional release of Motilalji and thereby do ----

The Indian States' Peoples' Conference

BOMBAY 193

(2)

-------- do justice, however belated, to him.

I hope you will kindly convey this request to Maharana Shree with the weight of your own [illegible] which I trust will be generous and far-sighted.

Hoping to be excused for the trouble,

I am,
Dear Sir,
Yours faithfully,
Manishankar Trivedi
General Secretary,
The Indian States' Peoples' Conference.

(चित्र स. 4)

तेजावत 1938 ई. के प्रजामण्डल आन्दोलन में पुनः गिरफ्तार कर छोड़े गये। 1939–40 ई. में इन्दौर में आर्य सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने गये (**चित्र स.5**)। 22 अगस्त, 1942 ई. को भारत छोड़ो आन्दोलन में गिरफ्तार हुए और 1945 तक नजरबन्द रहे।

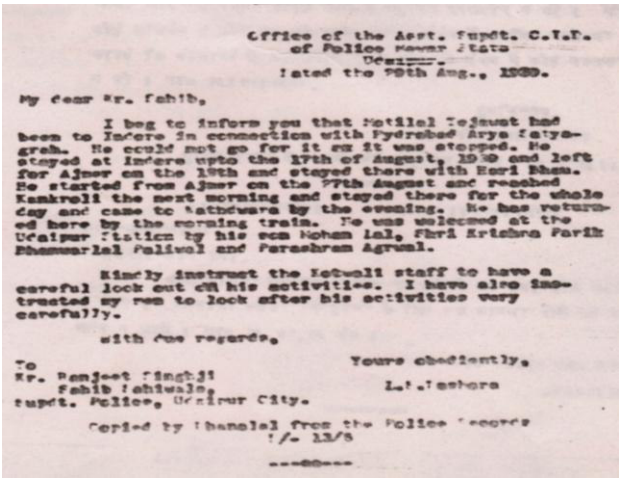

Office of the Asst. Supdt. C.I.D.
of Police Mewar State
Udaipur.
Dated the 29th Aug., 1939.

My dear Kr. Sahib,

I beg to inform you that Motilal Tejawat had been to Indore in connection with Hydrabad Arya Satyagrah. He could not go for it as it was stopped. He stayed at Indore upto the 17th of August, 1939 and left for Ajmer on the 19th and stayed there with Hari Bhau. He started from Ajmer on the 27th August and reached Kankroli the next morning and stayed there for the whole day and came to Nathdwara by the evening. He has returned here by the morning train. He was welcomed at the Udaipur Station by his son Mohan Lal, Shri Krishna Parik Bhanwarlal Paliwal and Parashram Agrawal.

Kindly instruct the Kotwali staff to have a careful look out on his activities. I have also instructed my men to look after his activities very carefully.

With due regards,

Yours obediently,

L. ... [illegible]

To
Kr. Ranjeet Singhji
Sahib Lahiwala,
Supdt. Police, Udaipur City.

Copied by [illegible] from the Police Records
S/- 13/8

---00---

(चित्र स. 5)

तेजावत 1947 ई. तक बराबर उदयपुर शहर में नजरबन्द रहे। पुलिस उनके साथ रहती थी, इस कारण वे न तो कहीं जा सकते थे और न ही अपने परिवार के भरण पोषण के लिए कुछ कर सके। 1951–52 ई. के विधान सभा चुनाव में वे सहाड़ा (गोगुन्दा, कोटड़ा) क्षेत्र में जनता के आग्रह पर खडे हुए थे, परन्तु पं. नेहरू के कहने पर उन्होंने कांग्रेस के उम्मीदवार के पक्ष में अपना पर्चा उठा लिया।

तेजावत ने बिजोलिया आन्दोलन की तर्ज पर आदिवासियों में एकता स्थापित की, साथ ही इस आन्दोलन की शुरुआत मातृकुण्डिया से कर धार्मिक एकता स्थापित की। एकी आन्दोलन ने आदिवासियों को अपनी मांगों और अधिकारों के लिए लड़ने को प्रेरित किया।

मोतीलाल तेजावत देश के मुट्ठी भर आजादी के दीवानों में से एक थे, जिन्होंने मातृभूमि की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर

दिया। तेजावत के दिल में शोषित, पीड़ित और बुभुक्षित आदिवासी जनता के लिए भारी दर्द था। इस भील कर्मठ नेता ने अपने जीवन का एक–एक क्षण आदिवासी जाति को सेवा में अर्पित कर दिया। 5 दिसम्बर 1963 ई. को यह आदिवासी मसीहा इस संसार से चल बसा।

सन्दर्भ

1. मोतीलाल तेजावत की हस्तलिखित डायरी (प्रो. गिरीशनाथ माथुर, सेवानिवृत्त आचार्य के व्यक्तिगत संग्रह में)।
2. मोतीलाल तेजावत सम्बन्धित कागजात, संग्रहित राजस्थान राज्य अभिलेखागार, शाखा– उदयपुर।
3. प्रेम सिंह काकरिया, भील क्रान्ति के प्रेणता श्री मोतीलाल तेजावत।
4. सुमनेश जोशी, राजस्थान में स्वतन्त्रता सेनानी, जयपुर ग्रन्थागार, जयपुर, 1973
5. कुमारी शर्मा शान्ति, राजस्थान में स्वतन्त्रता संग्राम के अमर पुरोधा मोतीलाल तेजावत, स्वर्ण जयति समारोह, जयपुर।
6. समाचार पत्र *तरुण राजस्थान, नवीन राजस्थान* में समाचार पत्रों बिजौलिया आन्दोलन सम्बन्धित समाचार।
7. हेमेन्द्र चौधरी, राजपूताना में प्रजामण्डल आन्दोलन, हिमांशु पब्लिकेशन,उदयपुर, 2012
8. गोपनीय रिपोर्टर्स, फाईल नं. 100, उदयपुर महकमाखास, राज्य अभिलेखागार शाखा, उदयपुर।
9. देव कोठारी, (सम्पादक); मेवाड़ में स्वतन्त्रता आन्दोलन का योगदान, साहित्य संस्थान, उदयपुर, 1991

वानिकी संरक्षण एवं पर्यावरण शिक्षा में लोक सन्तों की भूमिका

(संत जाम्भोजी के वानिकी संरक्षण एवं शिक्षण के प्रयास के विशेष संदर्भ में)

डॉ. प्रणव देव*

हमारी सांस्कृतिक समृद्धता का अक्षय कोश जिन उत्कृष्ट उपादानों से प्रतिभासित होकर आज विराट विश्व की विभिन्न समस्याओं का सबल समाधान प्रस्तुत कर रहा है, उसमें यहाँ के लोक सन्तों का चिन्तन उल्लेखनीय है। शूरों तथा सूरियों के अद्‌भुत सम्मिश्रण से परिपूर्ण वानिकी सरंक्षण एवं पर्यावरण शिक्षा की इस सांस्कृतिक निधि में इन लोकसंतों का अद्‌भुत योगदान रहा है। इनकी धार्मिक–आध्यात्मिक परम्परा के प्राथमिक या सतही अध्ययन से ही समष्टि की अनेक समस्याओं का समाधान सहज में ही दृष्टिगोचर होने लगता है। देश के लोक संतों यथा कबीर, तेजाजी, पाबूजी, गोगाजी, मल्लीनाथ जी, रामदेवजी, हरबूजी, जसनाथजी, हरिदास आदि संतों ने किसी न किसी रूप में वानिकी संरक्षण एवं पर्यावरण शिक्षा और उसके प्रभाव से परिचय कराया है, किन्तु वानिकी संरक्षण की दृष्टि से जाम्भोजी विशेष उल्लेखनीय है। प्रस्तुत शोध पत्र में उनके तथा विश्नोई सम्प्रदाय के वानिकी संरक्षण एवं वृक्षों के सरंक्षण के लिए उत्सर्ग को रेखांकित के साथ–साथ पर्यावरण शिक्षा के क्षेत्र में उनके योगदान को किया जा रहा है।

वानिकी संरक्षण की अवधारणा के मूल में जो वन एवं वन्य जीव–जन्तु सरंक्षण का जो प्रयास है वह जीवन को प्रभुत प्रभावित करता है। इसके अंर्तगत जीव–जन्तु, बनस्पति, वायु, जल, प्रकाश, ताप, मिट्‌टी, नदी, पहाड़ आदि प्राकृतिक घटकों के साथ–साथ जैविक एवं अजैविक घटक शामिल होते हैं। आधुनिक दृष्टि से वानिकी संरक्षण वह विज्ञान एवं शिल्प है, जिसके माध्यम से हम वन संरक्षण करते हुए पर्यावरणीय लाभों

*सह–आचार्य, इतिहास विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झालावाड़,

के लिए वांछित लक्ष्यों, आवश्यकताओं और मानवीय मूल्यों को संरक्षित करने के लिए वनों को संवर्द्धित एवं प्रबंधित करते हैं। भारत में वानिकी एक प्रमुख ग्रामीण आर्थिक क्रिया, ग्रामीण लोगों के जीवन से जुड़ा महत्त्वपूर्ण पहलू और पर्यावरणीय प्रबन्धन और धारणीय विकास के अवसर उपलब्ध कराने वाला क्षेत्र भी है, जिसके माध्यम से वन क्षेत्र में आई कमी को पूरा करने का प्रयास किया जाता है। समासतः वानिकी संरक्षण के अन्तर्गत वह सब कुछ समाविष्ट है जो वन सरंक्षण के लिए उपयोगी हो सकता है। तथापि पर्यावरणीय शिक्षा जीवन का मूल आधार है। प्राचीनकाल से इसको किसी न किसी रूप में स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक समझा जाता रहा है। भारत में इसे धर्म और आचरण से जोड़कर सार्वभौमिक रूप दिया गया है। पुस्तकीय शिक्षा के विस्तार के साथ–साथ इसका रूप बदल गया है। इसीलिए साक्षर और निरक्षर के लिए अलग–अलग ढंग से पर्यावरणीय शिक्षा की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। यह स्पष्ट है कि इस शताब्दी में प्रकृति और मानव समाज के सम्बन्धों में आये व्यापक बदलाव के कारण अनेक पर्यावरणीय कठिनाइयां उत्पन्न होने लगी हैं, और भविष्य में आने वाली नाना प्रकार की कठिनाइयों को महाविनाशक बताया जा रहा है। इसके लिए पर्यावरणीय शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव हो रही है। पर्यावरणीय शिक्षा उस विशिष्ट शिक्षा को कहते जो निखिल जन समुदाय को पर्यावरणीय जानकारियों एवं उसके महत्व से परिचित कराते हुए समूचे समाज का पर्यावरण बोध पुष्ट करती है, तथापि पर्यावरणीय कठिनाइयों के कारणों और निवारणों का मार्ग ढूंढते हुए जीवन को निरापद बनाने का मार्ग प्रशस्त करती है। समासतः पर्यावरणीय शिक्षा वह है जो विश्व समुदाय को पर्यावरण सम्बन्धी जानकारी एवं जागरूकता उपलब्ध कराती है।[1]

मानवीय क्रियाकलापों के कारण प्रकृति का संतुलन दिन–प्रतिदिन बिगड़ता जा रहा है। भौतिक विकास के नाम पर हो रहे अन्धाधुन्ध औद्योगीकरण, नगरीकरण के फलस्वरूप न सिर्फ जल, जंगल, जमीन कम हो रहे हैं, अपितु समूचे वन्य समाज का अस्तित्व ही खतरे में है। घटते वन्य क्षेत्रों से क्लान्त वन्य जीव–जन्तु आये दिन आबादी क्षेत्रों में घुस आते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि हमारा प्राकृतिक संतुलन दिन–प्रतिदिन

त्वरित गति से बिगड़ता जा रहा है। वन्य समाज जैसा पर्यावरण का प्रमुख घटक अपने नैसर्गिक स्वरूप से विचलित होकर प्रदूषण का शिकार हो रहा है। आजकल फसलों को कीटनाशक जीवों से सुरक्षित करने के लिए खेती में अनेक रासायनिक दवाओं का जो प्रयोग हो रहा है वह मानव और प्रकृति दोनों के लिए खतरे की घण्टी बजा रहा है। विभिन्न प्रकार के परमाणु परीक्षण, विभिन्न फैक्ट्रियों आदि से निकलने वाले धुएँ से वानिकी संरक्षण को अपने बचाव के लिए दिन–प्रतिदिन नयी चुनौती मिल रही है। हमारे लोक संतों ने **पाती–पाती जीव** (कबीर) का चिन्तन देकर वानिकी संरक्षण एवं पर्यावरण शिक्षा का संदेश बहुत पहले से देना प्रारम्भ कर दिया था।

लोकसन्त जाम्भोजी (1451–1526 ई.) ने अपने समस्त उपदेशात्मक सिद्धान्तों को विधिवत् नियमबद्ध करके एक नवीन विश्नोई सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जिसका नामकरण ही सम्प्रदाय के आधारभूत नियमों की संख्या 29 (बीस+नौ अर्थात् बीसनोई) के अनुसार किया गया। जाम्भोजी बाल्यावस्था से ही मननशील और अत्यन्त मितभाषी थे। किन्तु कभी–कभी उनके मुँह से निकलने वाली बातें लोगों का मस्तिष्क चकरा देती थीं।[2] विश्नोई सम्प्रदाय के इस आदिपुरूष का अवतरण भाद्रपद कृष्ण अश्टमी 1451 ई0 को पीपासर नागौर के पँवार वंशीय राजपूत लोहटजी तथा हासा देवी के पुत्र के रूप में हुआ था।[3] 7 वर्ष की अवस्था में गाय चराने हेतु वन–कान्तार क्षेत्रों में भ्रमण से वहाँ के शान्त सुरम्य वातावरण ने इन्हें आत्म चिन्तन हेतु प्रेरित किया। मान्यता है कि 16 वर्ष की अवस्था में जाम्भोजी का सद्गुरु से साक्षात्कार हुआ। सन् 1483 ई0 में माता–पिता की मृत्यु के बाद गृह त्याग कर सम्भराथल (बीकानेर) में रहते हुए वे सतत् सत्संग में निमग्न रहने लगे। सन् 1885 ई0 में इसी स्थान पर इन्होंने अपने विश्नोई मत का प्रतिपादन किया।[4] यहीं ज्ञानोपदेश करते हुए अन्ततः सन् 1526 ई0 में मार्ग शीर्ष कृष्ण नवमी को इनका महाप्रयाण हुआ, तथापि इन्हें समीपवर्ती तालवा ग्राम में समाधिस्थ किया गया।[5] विश्नोई सम्प्रदाय में यह स्थान **मुकाम** के नाम से जाना जाता है और यहीं इनके समाधि मन्दिर का निर्माण किया गया है। इस स्थान पर प्रतिवर्ष फाल्गुन की अमास्या को एक विशाल मेला आयोजित होता रहा है।[6]

जाम्भोजी वस्तुतः बहुमुखी प्रतिभा के लोकसन्त थे, उनके चिन्तन में जीव मात्र के प्रति करुणा की उत्कृष्ट भावना में वानिकी संरक्षण का फलक सहज उद्‌भाषित हो जाता है। इन्होंने अपनी शब्दवाणी में जीव रक्षा, पर्यावरण संरक्षण को प्रमुख सिद्धान्त मानकर पेड़–पौधों पशुओं की सुरक्षा का प्रबन्धकीय वातावरण बनाने का जो आग्रह किया, वस्तुतः वह पर्यावरण शिक्षा ही है। जाम्भोजी को वन्य प्रकृति का हरा–भरा वातावरण अत्यन्त ही प्रिय लगता था। इसलिए उन्होंने अपनी तपस्या स्थली कंकेड़ी या खेजड़ी के पेड़ों के मण्डप के बीच बनाया–

''हरि ककहड़ी मण्डप मैड़ी, तांहा हमारा वासा

वारी चक्र नवदीप थर हरै, जै आपौ परगासा''[7]

लोकसन्त जाम्भोजी ने जब विश्नोई सम्प्रदाय की स्थापना की, उस समय राजस्थान में भीषण अकाल पड़ा था। दुखी जीव जन्तुओं को देखकर उन्होंने पेड़–पौधों और जीव जन्तुओं की बहुत सेवा की थी। अकाल से क्लान्त वन्य समाज को देखकर उनका मन करुणा से भर गया और फिर उनके मन में विचार आया कि यदि पृथ्वी पर मनुष्य जीवन बचाना है तो वन्य संरक्षण अनिवार्य है। इसलिए उन्होंने अपने अनुयायियों को वृक्षों की रक्षा करते रहने की प्रेरणा अपनी वाणी में जगह–जगह दी है। उन्होंने बाहरी पर्यावरण के साथ–साथ आन्तरिक पर्यावरण को भी शुद्ध रखने की शिक्षा भी दी है। आन्तरिक पर्यावरण को शुद्ध रखने के लिए मनुष्य को ईर्ष्या, अहंकार छोड़ने का उपदेश दिया–

''शौचन्तु द्विविध प्ररोक्त बाहामाभ्यन्तरस।

मृज्जलाभयां स्मृत बाध्य मन वुद्धिस्तथात्मम''।।[8]

इसी प्रकार मन की शुद्धता और शारीरिक शुद्धता के लिए जाम्भोजी ने अपनी सबदवाणी में कहा है– **''सेरा करो स्नान, शील संतोष शुचि प्यारो''**

'' जा दिन तेरे होम न जाप न तप न किरिया।

गुरु न चीन्हू पंथ पायौ''।।

हवन, होम या यज्ञ करना पर्यावरण की दृष्टि से सत्कर्म माना जा सकता है। भारतीय संस्कृति में यह पद्धति वैदिककाल से लेकर आर्य समाजियों तक चली आ रही है। जाम्भोजी ने भी नित्य प्रातः हवन करने का उपदेश दिया है, जिससे वायु मण्डल के विषाणु समाप्त हो, और पर्यावरण शुद्ध हो।

यह गुण अपनाने से सांस्कृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण की पवित्रता बनाये रखने के साथ–साथ अन्य प्रकार के वानिकी संरक्षण के सोपानों को प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार आज दूध, पानी की शुद्धता को लेकर समाज चिन्तित है किन्तु आज से बहुत पहले जाम्भोजी अपनी सबदवाणी में कहते है– **''पाणी बाणी ईन्धणी, दूध, इतना लीजै छाण''**[9] आशय यह है कि मनुष्य को अपनी दिनचर्या में पानी, ईधन और दूध को छानबीन कर प्रयोग में लाना चाहिए। आशय यह है कि जलाने योग्य लकड़ी को वन में खोजबीन कर लाना चाहिए न कि हरे वृक्षों अथवा जलाने के अयोग्य वृक्षों को काटना चाहिए।

उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के अनुयायियों ने वानिकी संरक्षण की दिशा में जो त्याग व बलिदान किया वह अमिट है। वृक्षों के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले स्त्री पुरुष निश्चय ही गुरु जाम्भोजी के विश्नोई सम्प्रदाय के रहे हैं। राजस्थान के विश्नोई समाज ने वृक्षों को बचाने के लिए प्राण देने के अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस परम्परा को खड़ाना (साका) कहा जाता है। पहला साका संवत् 1661 अर्थात् 1604 ई0 में जोधपुर जिले के रामासड़ी (रैवासड़ी) गाँव में हुआ था। जहाँ दो विश्नोई स्त्रियाँ करमा और गौरा ने खेजड़ी वृक्ष बचाने के लिए गाँव के चौहट्टे पर **स्वेच्छा** से अपने प्राणों का बलिदान कर दिया था। जाम्भोजी के अनुयायियों ने अपने गुरु द्वारा बताये गये नियमों की रक्षा करते हुए इन दो साहसी महिलाओं के साथ–साथ सत्याग्रह स्वरूप अपने प्राणों का बलिदान दिया था। जम्भवाणी साखी में जाम्भोजी के परम शिष्य **वील्होजी**[10] ने इस बात का उल्लेख किया है–

''करमा खड़ी छै खेजड़ियां काज, रैवासड़ी के चौहटे।
सम्मत सौलासो संसार, समय मझ और इकसठे।।

इकसठे मंझ और जेठ मासे, कृष्ण पक्षे थावर दिने।
बीज के दिन किया पयाणों, सारिये सूधो मने।।
निरवहि नाम न सीख, मोटो, पाँव दे बेड़े चढ़ी।
गुरु परसादें वील्ह बोलै करमां अरू गौरा खड़ी''।।

दूसरा साका नागौर जिले में हुआ जब मेड़ता परगने के बालावास ग्राम में संवत् 1700 अर्थात् सन् 1643 ई0 के चैत्र वदि तीज को राजोद ग्राम में होली जलाने के लिए वृक्ष काटने के विरोध में **बूचोजी विश्नोई** ने तलवार से अपनी गर्दन कटवा दी।

तीसरा एवं सर्वाधिक महत्वूपर्ण साका जोधपुर जिले के खेजड़ली ग्राम में हुआ। यहाँ संवत् 1787 अर्थात् 1730 ई0 के भाद्रपद शुक्ल दशमी को जोधपुर रियासत के कारिन्दों द्वारा खेजड़ी के वृक्षों को कटने से बचाने के लिए सर्वप्रथम एक महिला **अमृतादेवी** ने अपने प्राणों की आहुति दी। उन्हीं का अनुसरण करते हुए उनकी तीनों पुत्रियों व उनके पति ने भी अपनी जान दे दी। इसके पश्चात् भी जब जोधपुर रियासत के अधिकारियों की वृक्ष काटने की जिद जारी रही तो ग्रामवासियों ने अमृतादेवी और उनके परिवार का अनुसरण करते हुए अपना बलिदान दिया। कुल मिलाकर गाँव के 363 व्यक्तियों ने वृक्षों की रक्षा के लिए अपने जीवन का बलिदान दिया। सम्पूर्ण विश्व में खेजड़ली की यह घटना अभूतपूर्व एवं अद्वितीय है। वानिकी संरक्षण के लिए दुनिया में इस तरह का दूसरा उदाहरण मिलना मुश्किल है। इसी प्रकार की एक अन्य घटना जोधपुर जिले के तिलासणी गाँव में हुई। **किरपों भाटी** द्वारा वृक्ष काटने के विरोध में **खीवजी, मोटो** व **नेतू नेण** ने अपना प्राणोत्सर्ग किया। इस सम्प्रदाय की मान्यता है कि वृक्षों के लिए प्राणोत्सर्ग भी सस्ता है–

''लीलो रूँख नी घावणो, अनि घावै द्यो प्राण,
सिर साटै जे रूँख रहे, तो भी सस्तो जाण।''

इस सम्प्रदाय की अमृता देवी की स्मृति अक्षुण्य बनाये रखने के लिए सन् 1978 ई. से राजस्थान सरकार का वन विभाग प्रत्येक वर्ष 12 सितम्बर को खेजड़ली दिवस मनाता है और वन संरक्षण के लिए अमृता

देवी पुरस्कार भी प्रदान करता है। उल्लेखनीय है कि विश्नोई समाज के प्रवर्तक जाम्भोजी ने अपने अनुयायियों को वानिकी संरक्षण का संदेश देते हुए जो उपदेश दिया था वे उसे आज भी चरितार्थ कर रहे हैं–

"जीव दया पालणी, रूँख लीला नहीं धावै।

करे रूँख प्रतिपाल, खेजड़ा रखत रखावै।।"

मूक जीवों को मारते समय उन्हें कितनी पीड़ा होती होगी? यह तो कभी मनुष्य सोचता ही नहीं। जाम्भोजी अपनी शब्द वाणी में कहते हैं–

"जीवां ऊपरि जोर करीजै, अतिकाल हुयसी भारी।"

वे अपनी वाणी में अंहिसा पर विशेष जोर देते थे। जाम्भोजी अपने उपदेशों में बार–बार वृक्षों के संरक्षण और संवर्द्धन की ही बात करते है। पुनश्च रविवार, सोमवार तथा अमावस्या को तो वृक्ष का काटने का पूर्ण निशेध किया है–

"सोम अमावस आदितवारी।

कांय काटी वणरायौ"।।

कालान्तर में जाम्भोजी के वृक्ष संरक्षण, हवन, यज्ञ पद्धति का अनुसरण अनेक संतों महापुरुषों ने अपने उपदेशों में किया है। जाम्भोजी और उनके विश्नोई सम्प्रदाय के अनुयायियों के विचारों और प्राणोत्सर्गों के परिणामस्वरूप जोधपुर रियासत सहित अन्य रियासतों में भी वृक्ष संरक्षण की राजाज्ञायें जारी की गई। जोधपुर के **महाराजा मान**सिंह द्वारा विश्नोईयों के गाँवों में वन संहार पर प्रतिबन्ध लगाने हेतु परवाना जारी किया गया–

"सिंहघवीजी श्री हरशमलजी लिशावतं गाँव सांवडाऊ रा धौधरीयाँ लोकां दीसे तथा तलाब पीपडलै रै आगोर मैलाय नांशजां मती नै खैजड़िया वाढजो मती नै लाशैटा री ऊरड़ लेजावजो मती नै लैजावसी तीण कनै श्री दरबार मै गुनैगारी लरीजसी नै खेच हुसी। सां। 1787 रा मीती मीगसर सुद 2।"

''संवत् 1862 की फाल्गुन की पूर्णिमा को लोहवट (जोधपुर) ग्राम के विश्नोईयों द्वारा वन संहार पर सामाजिक प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी एक अन्य प्रस्ताव भी यहाँ उल्लेखनीय है–

''लीखत 1 गाँव लोहावट रां सोधरीया वीसनोयां पंसां समतां कर दीनो छै वीसनोयां री नीमात मै इतरी बात री मरजाद छै बरयौ नै तमाकु नै खेजड़ी ओयण रो अमर झाड बाढण पाव नहीं कैल भी कोई वाढै तो रूपीया 5) तो नाडी मांहे दवै न रूपीया 51) श्री दरबार माहे देवै ईतरी बात री लीशण सारां पंसां क सीरै जासु लीश दीने छै समत 1862 रा फागण सुद 15।''[11] इन सामाजिक प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी प्रस्तावों के परिणामस्वरूप जोधपुर के महाराजा तख्तसिंह द्वारा विश्नोईयों के गाँवों में वन संहार पर प्रतिबन्ध लगाने हेतु राजाज्ञा जारी की गई– **''श्री राजराजेश्वर महाराजाधिराज श्री तख्तसिंह जी वचनात् थापन विश्नोइयां रा गांवा री सींव में नीलली खेजड़ी कोई वाढण पावै नहीं सिकार खैलण पावै नहीं कोई नीली खेजड़ी बाढसी सिकार खेलसी सो दरबार रो गुनैगार होसी संवत् 1900 वैसाख बदी 1 गढ जोधपुर।''**

जाम्भोजी के वानिकी संरक्षण एवं पर्यावरणीय शिक्षा के प्रभाव का सफल यह रहा है कि जोधपुर के साथ–साथ अन्य रियासतों ने भी वन संरक्षण के प्रयास प्रारम्भ किये। संरक्षित वन क्षेत्रों में शिकार ना करने के नियमों का कठोरता से पालन किया जाने लगा। इतना ही नहीं वर्ष 1818 में ब्यावर में एक सबडिवीजन तथा सन् 1872 ई. में अजमेर में वन विभाग की स्थापना हुई। सन् 1879 ई0 में जयपुर, उदयपुर, प्रतापगढ़, अलवर, जोधपुर रियासतों में वन प्रबन्धन की दिशा में महत्वपूर्ण पहल करते हुए वन विभाग स्थापित किये गये। वानिकी संरक्षण में लोक संतों की सकारात्मक भूमिका का विभिन्न रियासतों के राजाओं पर प्रभाव की व्यापक दिशा में गहरा प्रभाव पड़ा। वानिकी संरक्षण की परंपरा से प्रभावित अनेक राजाओं ने अपने–अपने ढंग से वन–संरक्षण का कार्य किया। उदाहरण के लिए– सन् 1940 ई. में झालावाड़ रियासत में 25 नवम्बर को एक राजाज्ञा जारी की गई। इसका सारांश उल्लेखनीय है– **''बमंशाये सदर जरिये महकमे खास महकमे माल सदर को इत्तिला दी जावे कि यह बात हर नाजिम फरायज में दाखिल कर दी जाये कि वह ऐसा इन्तिजाम करें कि**

हर सालगिरह में रोज फलदार या दीगर किस्म के दरख्त छोटे गाँवों में 5–5 और बड़े गाँवों में 10–10 लगा दिया जावें। फलदार दरख्त कुंए के करीब लगाये जावें, जाकि उनको आयन्दा पानी देने और हिफाजत करने में आसानी हो। मालसदर को चाहिये कि हर एक गाँव में चाहे वह खालसे में, हो या जागदीर में इस हुक्म की तालीम कर दी जावे। यह दरख्तान जंगलात व रकबे शिकार में नीज पक्की व कच्ची सड़कों के किनारे पर हर साल लगाये जावें।..... हर एक डिपार्टमेंट मुत्तअल्लिका से एक सालाना नकशा महकमे हाजा में मुहाहिजे के लिए आना चाहिए जिसमें यह जाहिर किया जावे कि कितने जदीद दरख्त लगाये गये और उनमें कितने परवरिश होकर मौजूद हैं।''[12] आज से 79 वर्ष पूर्व राजस्थान की रियासतों के राजाओं की पर्यावरण एवं वानिकी संरक्षण के प्रति सोच का यह एक आदर्श उदाहरण हो सकता है जो निश्चय ही ब्रिटिश सरकार से सम्बन्धों एवं जाम्भोजी जैसे लोक संतों के वृक्ष संरक्षण की सोच एवं पर्यावरणीय शिक्षा का सुफल माना जा सकता है।

समासतः प्राचीन भारत में पर्यावरणीय शिक्षा का स्वरूप जिस प्रकार आचरणपरक रहा है, उसे अपने समय तथा समाज में संचालित करने क कार्य लोकसन्तों ने धर्म और सामाजिक परम्पराओं के माध्यम से सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। वानिकी संरक्षण के लिए आवश्यक निर्देशों को धार्मिक और सामाजिक स्वरूप देकर आचरण का मूल आधार बना दिया। वृक्षों की महत्ता को ध्यान में रखते हुए उसे **तरु देवो भव** कहकर संबोधित किया आधुनिक काल में धर्म के प्रति बढ़ती अरुचि और सामजिक उत्थान के लिए पश्चिमी समाज के अनुकरण के कारण न तो हमारी प्राचीन पद्धति सशक्त रह सकी और न ही हम नई विधि का अनुसरण कर सके। ऐसी स्थिति में हमारा वन संरक्षण अथवा पर्यावरण बोध दिन प्रतिदिन कमजोर होता गया, जिसे जाम्भोजी जैसे लोकसन्तों ने अपने उपदेशों के माध्यम से सशक्त करने क सफल प्रयास किया। यह स्पष्ट है कि जाम्भोजी ही नहीं अपितु राजस्थान के जसनाथ जी जैसे अन्य अनेक लोक संतों की वाणियों परचियों में वानिकी संरक्षण एवं पर्यावरणीय शिक्षा के अनेक उपदेश उपलब्ध हैं, जो हमारी आज की वानिकी संरक्षण की

योजना को प्रोत्साहित करते हुए पर्यावरणीय चिन्ता का समाधान कर सकते हैं।

सन्दर्भ

1. वी.के. श्रीवास्तव एवं बी.पी. राव : पर्यावरण और पारिस्थितिकी वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, 1999, पृ. 471
2. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी आगरा पृ0सं0 409
3. स्वामी ब्रह्मानन्द : जम्भदेव चरित्र भानु, पृ0सं. 1
4. (अ) हीरालाल माहेश्वरी : जाम्भोजी, विश्नोई सम्प्रदाय और साहित्य बी.आर. पब्लिकेशन्स कलकत्ता सन् 1976 भाग–1 पृ.सं. 238, दिनेश चन्द्र शुक्ल : राजस्थान के प्रमुख संत एवं लोकदेवता राजस्थानी साहित्य संस्थान जोधपुर 1992 ई. पृ.सं. 106–107

   (ब) दिनेश चन्द्र शुक्ल : राजस्थान के प्रमुख संत एवं लोकदेवता राजस्थानी साहित्य संस्थान जोधपुर 1992 ई. पृ0सं0 106–107

   (स) सहीराम विश्नोई : सन्त जाम्भोजी तथा विश्नोई दर्शन, राजस्थानी ग्रन्थागार जोधपुर प्रथम संस्करण 2014 पृ.सं. 42
5. स्वामी सच्चिदानन्द : जम्भगीता, विद्या प्रेस लाहौर वि.स. 1992 भूमिका पृ. सं. 3, अमर ज्योति सम्पादक शेरसिंह विश्नोई, हिसार विश्नोई सभा, विश्नोई मन्दिर हिसार सन् 2000
6. सिंह, राय बहादुर मुन्शी हरदियाल, रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज मारवाड़ सन् 1891 ई. प्रथम प्रकाशन 1896, श्री जगदीश सिंह गहलोत शोध संस्थान, पुनः प्रकाशन 1997 जोधपुर पृ0 सं0 96
7. किशना राम विश्नोई और निहालसिंह जौहर : गुरुजम्बेश्वर जीवन और पर्यावरणीय अवधारणा पृ0 सं0 5, संभराथल धारा शोध पत्रिका धर्म विभाग गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय हिसार हरियाणा प्रवेशांक वर्ष 1 जनवरी 2012 पृ0सं0 64–65

8. (अ) किशना राम विश्नोई और नरसीराम विश्नोई : आध्यात्मिक पर्यावरण की मीमांसा, पृ0 सं0 258 धर्म एवं पर्यावरण, कोमन वेल्थ पब्लिशर्स दिल्ली 2000

(ब) साहब रामजी राहर : जम्भसार विश्नोई मन्दिर ऋषिकेश भाग–1 पृ0सं0 57

9. किशना राम विश्नोई और नरसीराम विश्नोई : आध्यात्मिक पर्यावरण की मीमांसा पृ0 सं0 261

10. किशनलाल विश्नोई : वील्होजी की वाणी सम्भराथल प्रकाशन अबूब षहर सिरसा 1993 पृ0सं0 45

11. चतराराम विश्नोई : ''चिपको आन्दोलन एक पृश्ठभूमि'', संगोश्ठी वाणी, वर्ष–2, अंक–12, पृ0सं. 11

12. राजस्थान राज्य अभिलेखागाार बीकानेर : झालावाड़ रिकार्डस अप्रकाशित बस्ता नं0 4 फाईल नं0 10 महकमा खास झालावाड़ स्टेट 25 नवम्बर 1940 ई.

❖ जाम्भोजी और विश्नोई सम्प्रदाय पर अग्रलिखित पुस्तके, जिनमें वन संरक्षण एवं पर्यावरण शिक्षा के अनेक सूत्र उपलब्ध है, पठनीय है– 1 बलिदान कथा (विश्नोई मन्दिर ऋषिकेश), 2 विश्नोई दर्पण (विश्नोई मन्दिर ऋषिकेश), 3 विश्नोई धर्म प्रकाश–स्वामी भगीरथ दास आचार्य, 4 विश्नाई धर्म संस्कार–श्रीकिशन विश्नोई (ढोक धोरा प्रकाशन बीकानेर 1991) 5 विश्नोई संतों का हरजस–किशनलाल विश्नोई (प्रकाशन सम्भराथल प्रकाशन सिरसा 1994), 6 धर्म एवं पर्यावरण–डॉ. किशनराम विश्नोई और डॉ. नरसी राम विश्नोई कॉमन वेल्थ पब्लिशर्स दिल्ली, 2000, 7 गुरु जम्भेश्वर एवं विश्नोई पंथ का इतिहास–कृष्णलाल विश्नोई, (सम्भराथल प्रकाशन सिरसा 2000), 8 जम्भ चरित्र (विश्नोई मन्दिर ऋषिकेश), 9 जम्भगीता–मालाराम गोदारा (जम्भेश्वर प्रकाशन सांचौर 2000), 10 जम्भ महिमा विश्नोई मन्दिर ऋषिकेश, 11 जम्भ सागर–स्वामी रामानन्दजी (विश्नोई सभा हिसार), 12 जम्भ साहित्य– स्वामी ईश्वरानन्द (धार्मिक यन्त्रालय

प्रयाग वि.सं. 2011), 13 जम्भसार साहब राम जी राहर (विश्नोई मन्दिर ऋषिकेश), 14 जम्भ पुराण आचार्य स्वामी कृष्णानन्द (विश्नोई मन्दिर ऋषिकेश 2003), 15 जम्भ साखी संग्रह स्वामी विवेकानन्द 1978, 16 जाम्भोजी की सबदवाणी–हीरालाल माहेश्वरी, 17 जाम्भोजी की वाणी– सूर्य शंकर पारिक विकास प्रकाशन बीकानेर 2001, 18 खेजड़ली बलिदान कथा–आचार्य स्वामी कृष्णानन्द, 19 श्री जम्भसागर–स्वामी ईश्वरानन्द हिन्दू प्रेस दिल्ली वि.सं. 1949, 20 श्री विश्नाई धर्म संस्थापक– स्वामी, 21 सबद वाणी जम्भसागर–आचार्य स्वामी कृष्णानन्द (स्वामी ज्ञान प्रकाश जी प्रिन्टर, भारत प्रिन्टर ऋषिकेश) 22 सबदवाणी गुटका (विश्नोई मन्दिर ऋषिकेश), 23 सबदवाणी गुटका–रामदासजी (विद्या प्रकाश प्रेस लाहौर) 24 सबद वाणी साधु गंगादास शंकरदास सरस्वती प्रिटिंग प्रेस मेरठ।

छत्तीसगढ़ में सामाजिक समरसता के ध्वजवाहक गुरु घासीदास : एक अध्ययन

डॉ. पंकज सिंह*

छुआछूत तथा अस्पृश्यता भारतीय समाज में एक असाध्य रोग की भांति है, जिसने भारतीय समाज को कई टुकड़ों में विभाजित कर दिया है। विशेषकर ऊंची और नीची जातियों में काफी भेदभाव और वैमनस्य उत्पन्न होने से सामाजिक एकता छिन्न–भिन्न हुई। छुआछूत के कारण ही सामाजिक और आर्थिक विकास के प्रायः सभी सुअवसर और साधन ऊंची जातियों के हाथों में थे। फलस्वरूप आगे भी समाज का अधिक भाग गरीब, अशिक्षित और प्रत्येक दृष्टि से पीछे रह गया। अतएव पूरे देश के पिछड़ेपन के प्रमुख कारणों में से एक छुआछूत तथा अस्पृश्यता की भावना भी है। भारतीय समाज में छुआछूत, जाति प्रथा का एक घृणित पहलू है। हमारे देश में जाति प्रथा का उद्‌भव लगभग तीन हजार वर्ष पहले हुआ था। जाति व्यवस्था का सबसे कुरूप स्वरूप यह रहा कि उसने कुछ वर्गों को अस्पृश्य और जातिविहीन घोषित कर दिया। फिर इसके बहाने उन्हें जमीन के स्वामित्व, मंदिर में प्रवेश, गांव के कुएँ, तालाब जैसे पानी के स्रोतों से वंचित रहना पड़ा। अस्पृश्यों के साथ अन्य सभी जातियों को, यहां तक कि उनके सबसे निचले तबकों को भी अछूतों से शारीरिक स्पर्श करने की मनाही थी। वे उनके हाथों का पानी या भोजन तक स्वीकार नहीं कर सकते थे।[1]

गुरु घासीदास का आविर्भाव जिन दिनों हुआ उन दिनों छत्तीसगढ़ अंचल में मराठों का शासन था। देश के कतिपय भागों पर अंग्रेजी राज की पृष्ठभूमि बन रही थी अराजकता, अनेकता व कुशासन से

*सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म. प्र.

लोग त्रस्त थे। गुरु घासीदास का जन्म ऐसे युग में हुआ था, जब ऊँच–नीच, जातिगत भेदभाव तथा छुआछूत की भावनाएं अपनी चरम सीमा पर थीं। छुआछूत की भावनाएं इतनी प्रबल थीं कि स्वर्ग तो दूर की बात है अछूत संभ्रात वर्ग की गलियों से जूते निकाल कर चलते थे। धर्मगुरुओं के द्वारा स्थापित मान्यताएँ और नियम लगभग अपरिवर्तनीय थे। धर्म की मान्यता लेकर यहाँ स्थित जाति संस्था ने राजसत्ता से अधिक व्यापक क्षेत्र घेर रखा था। जाति–उपजातियों के अपने अलग–अलग नियम थे और उनका पालन कड़ाई के साथ किया जाता था। जाति बहिष्कृत होना सबसे बड़ी सजा थी। लोग जितना मृत्यु से नहीं डरते थे, उतना जाति–बहिष्कृत होने से। जाति व्यवस्था को धर्म का संरक्षण था। इसलिए एक ओर स्वधर्मनिष्ठा बढ़ती गयी तो दूसरी ओर समाजनिष्ठा कम होती गयी। लोगों की दृष्टि में अपना कुल और अपनी जाति–पांति वही सब कुछ थे। धर्मनिष्ठा में भी अन्धविश्वास और अज्ञान का अंश अधिक था। रूढ़ियॉ बलवती थीं। कर्मकांड, मंत्र–तंत्र, शकुन–अपशकुन, जारण–मारण इत्यादि का बाजार गर्म था। गुरु घासीदास ने युगों से प्रताड़ित, शोषित, दमित, उत्पीड़ित और अपमानित छत्तीसगढ़ के लाखों लोगों को समाज में प्रतिष्ठा दिलाकर उनमें नया आत्मविश्वास जगाया तथा शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाने की नई शक्ति दी।[2]

भारतवर्ष की पावन धरा अनेकों धर्मों के संत, महात्मा, ऋषि, समाज सुधारक, पंथ प्रर्वतकों की जन्म व कर्मस्थली रही है। छत्तीसगढ़ के महान संतशिरोमणी गुरु बाबा घासीदास जी का अग्रणी स्थान है। छत्तीसगढ़ में सतनाम पंथ के प्रवर्तक गुरु घासीदास जी माने जाते हैं। युग पुरुष समय की मांग होते हैं। मध्ययुगीन भारतीय भक्त कवि जैसे कबीरदास, नानक, रैदास आदि ने तत्कालीन समाज की असमानता की जमकर भर्त्सना की। बुद्ध और कबीर की परम्परा के अनुसार गुरु घासीदास छत्तीसगढ़ में सामाजिक समरसता के अग्रणी क्रांतिकारी संत थे।

गुरु घासीदास के संबंध में अध्ययन का इतिहास 1862 ई. से प्रारंभ होता है, जब जे.बी. चिशम ने उन पर एक विस्तृत आलेख लिखा था, जो जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल में छपा था। इसी

आलेख का संक्षिप्त रूप उन्होंने बाद में 1868 ई. के रिपोर्ट ऑन द लैंड रैवेन्यू सेटेलमेंट ऑफ द बिलासपुर डिस्ट्रिक्ट इन सेंट्रल प्रॉविन्सेज में प्रस्तुत किया था। उक्त रिपोर्ट में भी चिशम ने अपने पूर्ववर्ती आलेख का हवाला दिया है। चिशम के अलावा हीवेट (1869), ग्रांट (1870), शेरिंग (1872), गॉर्डन (1902–1908), ए. ई. नेल्सन (सेन्ट्रल प्राविसेंस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, रायपुर, डिस्ट्रिक्ट, ब्रिटिश प्रेस, बम्बई, 1909), रसेल तथा हीरालाल (1916) आदि ने घासीदास के व्यक्तित्व पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है। इसके अलावा हीरालाल शुक्ल ने गुरु घासीदास के व्यक्तित्व और कृतित्व पर तीन ग्रंथ क्रमशः हिन्दी में गुरु घासीदास संघर्ष समन्वय और सिद्धांत, अंग्रेजी में छतीसगढ रिडिस्कवर्ड तथा संस्कृत में गुरु घासीदास चरित्रम् लिखा है।[3]

घासीदासजी का जन्म 18 दिसम्बर, 1756 को (माघ मास की पूर्णिमा तिथि) बलौदाबाजार जिले (पूर्व में बिलासपुर जिला) के गिरोधपुरी (गिरौदपुरी) नामक गांव में किसान परिवार में हुआ था।[4] यह गांव सोनाखान जंगल के पास स्थित है। घासीदासजी का बचपन गरीबी में बीता। घासीदासजी का परिवार दूसरों के खेतों में काम करता था। घासीदासजी के पिता का नाम महंगूदास तथा माता का नाम अमरौतीन था। घर में गरीबी तथा सामाजिक भेदभाव, यह सब देखते और झेलते हुए वे जवान हुए। घासीदास जी खेती कार्य में ही संलग्न रहे। खेती–बाड़ी ही घासीदास जी की जीविका उपार्जन का साधन बन गया। पिता महंगूदास ने उनका विवाह सिरपुर गांव निवासी देवदत्त की पुत्री सफूरा के साथ कर दिया। घासीदासजी के चार पुत्र (अमरदास, बालकदास, आगरदास और अड़गड़िया) एवं एक पुत्री (सुभद्रा) थी।[5]

कुछ वर्ष उनका जीवन गृहस्थ में बीता, लेकिन समाज में व्याप्त असमानता, छुआछूत, कुरितियों से उनका मन परेशान था और वे तथागत बुद्ध की तरह लोगों के दुखों से द्रवित होकर एक दिन जंगल की ओर निकल पड़े। गिरौद के पास ('छाता' नाम के पहाड़) तेंदू वृक्ष (औरा–घौरा) के नीचे बैठकर तपस्या की। सत्यनाम् (ईश्वर) का चिंतन किया करते थे,[6] जो अब दलितों विशेषकर सतनामियों का तीर्थस्थान भी बन गया है। चिशम सेटेलमेंट रिपोर्ट के अनुसार छत्तीसगढ़ के दलित एवं वंचित समूह

के लोग अपनी मनोकामना पूर्ण कराने के लिए वहां जाने लगे। इस तरह घासीदासजी सतनामियों के सिद्ध गुरु बन गए।[7] इस तरह सतनाम पंथ का प्रचार–प्रसार आगे बढ़ा। गुरु घासीदास की प्रसिद्धि पंथी नृत्य–गीतों में समाहित हैं। इस नृत्य–गीत से पता चलता है कि घासीदासजी सतनामियों के सिद्ध गुरु बन गए थे।

सत्यनाम, सत्यनाम, सत्यनाम सार,
गुरु तोर महिमा अपार।
अमरित धार ला बोहाई दे,
हो जाही बेड़ा पार।।
अमरित धार ला बोहाई दे,
एक पेड़ अंवरा, एक पेड़ धवरा साहेब।
सत के नाम सतलोक ले लाये साहब,
चारो बरन ते हा अमृत पिलाये साहब।।
चाबे–चाबे साप के मनखे ला जगाये,
मरे–मरे मूर्दा ला तय हा जियाए साहब।। [8]

गुरु घासीदास के नैतिक दर्शन में भाग्य का कोई स्थान नहीं है। कर्म के सिद्धान्त को उन्होंने वरीयता दी है। सती, टोनही का वध, नरबलि, अंधविश्वास के खिलाफ उन्होंने ताउम्र आवाज बुलंद की। घासीदासजी की जन्मभूमि गिरौदपुरी और कर्मभूमि भण्डारपुरी रही है। भण्डारपुरी में उनके चरणचिन्ह आज सुरक्षित हैं। गुरु घासीदास से संबंधित होने के कारण यह स्थान सतनामी सम्प्रदाय के धार्मिक तीर्थ स्थल बन गये। गुरु घासीदास ने सर्वसाधारण के जीवन में परिवर्तन लाने उनके दैनिक आचार व्यवहार में परिवर्तन करने तथा उनमें सामाजिक क्रांति उत्पन्न करने के उद्देश्य से सतनामी समाज को सात सूत्रों में बांधने का प्रयास किया।[9]

1. सतनाम पर विश्वास करे।
2. मूर्तिपूजा न करो।
3. जातिभेद के प्रपंच में न पड़ो।
4. मांसाहार का त्याग करो।

5. दूसरी स्त्री को माता समझो।
6. शराब व मादक वस्तुओं का सेवन मत करो।
7. अपरान्ह् में खेत न जोतो।

जिन लोगों ने इन सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया, वे अपने को सतनामी कहने लगे। इनमें ऊँच–नीच का भेदभाव न रह गया। वे अपने को एक मात्र सत्य का उपासक कहने लगे।[10] संत गुरु घासीदास के सप्त सिद्धांतों को सतनामी समाज के लोग अपने गीतों में निम्न प्रकार से गाते हैं–

गुरुघासीदास बरजते थे बारम बार रे हंसा,
तुम चेतव कर्म सुधार ला।
बिड़ी मत पियो, हंसा मुखड़ा जलत है,
धुगियारचे तोर काया मा, हंसातुम चेतो कर्म ला।
मंद मत पियो, हंसा भंग मत पियो,
तोला बैईहा कहही संसार में, हंसा तुम चेतव कर्म सुधार ल्यो।
जूवां मत खेलो, हंसा घर बिगड़त हे,
रंक कह ही संसारा में, हंसा तुम चेत कर्म सुधार ले।
मांस मत खावव, जीव मत मारव।
लोग कह ही हत्यारा रे, हंसा तुम चेतव कर्म सुधार लेवव रे,
झूठ मत बोलव, चोरी मत करव रे।
नई तो पकड़े जहियो रे, हंसा तुम चेतव कर्म सुधार लेवव रे।
घासीदास कहत समुझाई, नई तो फीर फीर,
भटका ला खाबे रे, हंसा तुम चेतव कर्म सुधार लेवव रे।'' [11]

संत गुरु घासीदास ने हिन्दू धर्म में जारी जांति–पांति की वर्ण व्यवस्था, मूर्तिपूजा, और छुआछूत की अनावश्यक परंपरा का विरोध किया। एक अत्याधुनिक धार्मिक और सामाजिक संत के रूप में गुरु घासीदास सम्पन्न आध्यात्मिक प्रणेता के रूप में अवतरित हुए जिसने सत्यनिष्ठा के लिए अपना जीवन लगा दिया। छुआछूत, नारी–उद्धार तथा आर्थिक

विषमता के विरोध में भी घासीदास जी ने एक बहुत बड़े क्रांति दृष्टा तथा युग निर्माता का कार्य किया। उन्होंने नारी समुदाय में विशेष जागृति का काम किया, कभी भी पुरुष और महिला में भेद नहीं किया। पुरुष के हर कार्य की सहभागिनी महिला है। सामाजिक, धार्मिक पर्वों के समय महिला समान रूप से पुरुष की मदद करती थी। इसलिए महिला को मातृशक्ति कहते हैं। महिलाओं का सम्मान होता था। पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा का नामो निशान न था।

इतिहासविद् प्रोफेसर रामकुमार बेहार का मानना है कि गुरु घासीदास किसी भी तरह के पाखंड के खिलाफ थे, उन का कहना था–

जिस तरह तू सोचता है उस तरह तू दिक्ख,
जिस तरह तू बोलता है उस तरह तू लिक्ख।।

उक्त पंक्तियां स्पष्ट करती हैं कि गुरु घासीदास कथनी एवं करनी में भेद रखने वालों के सख्त खिलाफ थे।[12] इतिहासकार डॉ. डी.एन. खूंटे के अनुसार गुरु घासीदास ने सदैव आचरण की सात्विकता पर विशेष जोर दिया। सत, रज और तम इन तीन गुणों में सत का वर्ण श्वेत माना गया है। श्वेत झण्डा, श्वेत जयस्तम्भ, श्वेत पोशाक को सतनाम के अनुयायियों के लिये सर्वोत्तम माना गया है।[13]

गुरु घासीदास के उपदेश पंथी नृत्य–गीतों में समाहित हैं। इस नृत्य–गीत से पता चलता है कि गुरु घासीदास निर्गुण पंथ के संत थे। मंदिर के भीतर रखी पत्थर की मूर्ति से अलग गुरु घासीदास जी ने अपने भीतर छिपी हुई शक्ति के बारे में कहा है,

मंदिरवा में का करे जाबो,
अपन घट ही के देव ला मनाबो,
मंदिरवा में का करे जाबो,
पथरा के देवता हालै नई ए, न डौलत नई ए,
काहे के प्रीत लगइबो,
पथरा के देवता सूधे नई तो जानै हो,
ओमा का धूप अगरबत्ती चढ़ाबो।

मंदिरवा में का करे जाबो,
अपन मन ल, काबर भरमई बो,
मंदिरवा म का करे जाबो।।
तीरथ के पंडा हर जग भरमावै,
काबर पैसा लुटैइबो,
घर ही मा गंगा, घर ही ला जमुना,
घर ही ला तीरथ बनइबो,
मंदिरवा म का करे जइबो।।
घर ही ला साधु अउ सत ला बलइके,
आनंद मंगल गइबो,
मंदिरवा म का करे जइबो।।
कहे गुरु घासीदास बोलता ला छोड़ के,
काबर पथरा मा मुड़ ला पटकइबो,
मंदिरवा म का करे जइबो।। [14]

गुरु घासीदास कहते थे सतनाम ही सार है। गुरु घासीदास को मानने वाले सतनामी समुदाय के लोग मंगल गीत के अंतर्गत सतनाम की महिमा गाते हैं–

सतनाम सतनाम सतनाम बोल,
कहे गुरुघासीदास सतनाम बोल।
गर्भवास में भक्ति कबुले,
बाहर आये तुम उनको भूले,
पूरा करो तुम अपना बोल,
कहे गुरुघासीदास सतनाम बोल।।
मानुस तन तुम पाकर प्यारे,
क्यों सोते हो पांव पसारे,
ज्ञानहीन नर आंखे खोल,
कहे गुरुघासीदास सतनाम बोल।।
लोभ घमंड सब बिसराओ,

विषियों से तुम चित्त हटाओ,
ज्ञान तराजू में लेकर तोल
कहे गुरुघासीदास सतनाम बोल।[15]

आज सतनामी समाज का माध्यम पंथी गीत व पंथी नृत्य है। इसे लोग गुरु घासीदास के अवसान के अनंतर उनकी स्मृति में श्रद्धा भक्ति के साथ नाच गाकर भावाभिव्यक्ति करते रहे हैं। यही कारण है कि यह छत्तीसगढ़ी लोकगीत की एक जातीय विधा, लोक भजन और लोक नृत्य की एक पृथक शैली है, जो अंचल से उठकर देश–विदेश में अपनी पहचान बना चुका है। पंथी लोकनृत्य में सतनाम पंथ का प्रचार ही नहीं, मानवीय विकास की गाथा भी विद्मान है। इनके गीतों में शांत रस का प्राधान्य है, लेकिन जीवन के विविध पक्षों को स्पर्श करने के कारण इनमें सभी रस और लोक जीवन के समग्र विषय वस्तु समावेशित हैं, इसके बावजूद भक्त हृदय में रमता है। गुरु घासीदास के व्यक्तित्व–कृतित्व के रेखांकन के अतिरिक्त सत्य नाम की महिमा और जय स्तंभ शबरी महामात्य आदि उपदेश और सतनाम पंथ की वह समस्त पूजा विधि व सदाचरण संकलित है, जो गुरु घासीदास के निर्देशों और आदर्शों के अनुकूल है। पंथी लोक नृत्य–गीत इसी दृष्टि से विशिष्ट है और वह सतनामी समाज के इतिहास और संस्कृति को संजोकर रखता है।[16]

''हे सतपुरुष तोर बंदगी ला मै भूलवं नहीं,
नाम तो एकेच सतनाम, नाम हे सही,
आन नाम अऊ नाम ला मैं पूजौव नहीं,

हे सतपुरुष तोर बंदगी ला मैं भुलव नहीं।''

इसके नृत्य गीत में सतनामियों की सतनाम पंथ और गुरु घासीदास के प्रति आस्था प्रमुख स्वर के रूप में विद्यमान हैं। पंथी नृत्य को छत्तीसगढ़ के लोक नृत्य की जातीय और विशेष शैली से अलंकृत करता है, इसमें भाव के अनुरूप नृत्य भक्ति भाव को ही मूर्त करते हैं, साथ ही इसमें समाज की सामूहिकता झलकती है। सतनाम को मानने वाले

सतनामी कहलाए। ये मानते हैं कि ईश्वर का नाम ही सतनाम है और यही एकमात्र सत्य है।[17]

घासीदास ने जगजीवनदास से प्रेरणा लेकर सतनाम शब्द का व्यवहार किया और छत्तीसगढ़ में एक नया पंथ सतनामी पंथ चलाया।[18]

प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. आाभा पाल के अनुसार घासीदासजी सामाजिक समरसता एवं समानता के पक्षधर थे। अहिंसक आचरण पर उनका अटूट विश्वास था और वे सामाजिक भेदभाव, ऊँच–नीच, छुआछूत या इसी तरह के कोई भी सामाजिक अन्याय को हिंसा मानते थे। घासीदासजी के अनुसार मनुष्य की स्वतंत्रता उसके स्वभाव में मूर्तकाल है जबकि कोई भी सामाजिक अन्याय इस मानव स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक है। घासीदासजी का मानना था कि स्वतंत्रता प्राप्त करना ही मनुष्य का धर्म है और परतंत्रता ही पाप है। परतंत्रता ही सभी प्रकार की हिंसा की जननी है। अतः समाज में सद्व्यवहार पूर्ण क्रियाशीलता सदाचरण ऐसे व्यक्ति के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है जो आत्म स्वतंत्रता के लिए प्रयासरत है।[19]

छत्तीसगढ़ में महिलाओं की स्थिति पर चर्चा करते हुए डॉ. के. एस. परिहार ने बताया छत्तीसगढ़ की महिलाएं कठोर श्रम करती है तथा पुरुष के साथ मिलकर कार्य करती हैं उन्हें सम्मान देती हैं और सदा मर्यादा का निर्वाह करती हैं। पति के साथ कंधे से कंधा मिलाकर खेतों में कार्य करती हैं। श्रमपूर्ण कार्य करने के बाद भी स्वास्थ्य व पुष्ट दृष्टिगत होती हैं। ग्रामीण समाज में स्त्रियों की दशा सामान्यतः ठीक थी, किन्तु अंधविश्वास तथा शिक्षा के अभाव में कई विधवा अथवा अत्यंत गरीब महिलाओं को टोनही कहकर प्रताड़ित किया जाता था। अंधविश्वास तथा शिक्षा के अभाव के कारण बैगा, ओझा तथा गुनिया का समाज में सम्मानजनक स्थान था। तात्कालिक समाज में लोगों का विश्वास था कि टोनही मारन, मोन अच्चारन सभी विद्याओं में निपुण हुआ करती है व जहां चाहे उसी गांव में हैजा फैला कर जितने लोगों को चाहे मनवा सकती है। जब चाहे अदृश्य होकर मृत आदमियों को जीवित कर दे और बिना किसी प्रकार का घाव किये जब चाहे तब किसी आदमी का खून चूस

जाये। बीमारियां पैदा कर देना, उसके बायें हाथ का खेल समझा जाता था। समाज ने ऐसी स्त्रियों के लिए बड़ी से बड़ी सजा नियुक्त कर रखी थी और बैगा लोगों के इशारे पर अनेकानेक निरापराध स्त्रियां इतनी सताई जाती थीं कि उनकी प्रताड़ना प्राणघात के सिद्ध होती थी। ऐसे टोनही युग में सिद्ध संतों की सिद्धता का विश्वास बढ़ जाना स्वाभाविक बात न थी।[20]

गुरु घासीदास छत्तीसगढ़ में नारी जाति के प्रथम उद्धारक थे।[21] इस क्षेत्र की सतनामी महिलाएं और गृहणियां धान कटाई का हंसिया हाथ में लेकर खेत खलिहानों में काम करती हैं। पूर्ण स्वाधीनता और कर्मठता का यह अधिकार स्त्रियों को देने में गुरु घासीदास ने झण्डा उठाया था। वे मातृशक्ति का सम्मान करते थे उन्होंने लोगों को समझाया कि नारी बच्चा पैदा करने वाली मशीन नहीं है। वह उपभोग की वस्तु नहीं है। उसे मान–सम्मान के साथ जीने का अधिकार है। नारी के स्वाभिमान की रक्षा के लिए बाल–विवाह, बहु–विवाह को बंद करवाया। दासी प्रथा का विरोध किया। आज भी सतनामी समाज में स्त्रियों की गरिमा आंकी जाती है। इस समुदाय में दहेज प्रथा नहीं है। गुरु घासीदास के उपदेशों का प्रभाव है कि सतनामी समाज की कन्याएं निरंतर उच्च शिक्षा की ओर अग्रसर हो रही हैं। घासीदासजी नारी को पुरुष के बराबर मानते थे। उन्होंने ही विधवा विवाह को छत्तीसगढ़ में प्रोत्साहित किया और दहेज प्रथा को जड़ से समाप्त कर दिया। विधवा स्त्रियों के पुनर्विवाह, धार्मिक कार्यों में पुरुषों के बराबर ही हिस्सा लेने के अधिकार और एक स्त्री के विवाह आदि संबंधित जितने भी मौलिक हक हैं गुरु घासीदास ने उन सब के लिए सतत् संघर्ष किया। घासीदासजी ने नारी समुदाय में विशेष जागृति का काम किया।

गुरु घासीदासजी छत्तीसगढ़ अंचल में 18–19 वीं शताब्दीं में बहुत बड़े समाज सुधारक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। वे सतनाम पंथ की उन्नति के साथ–साथ सामाजिक समरसता, सामाजिक सतानता, आर्थिक एवं सांस्कृतिक उन्नयन के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते थे। आज हमें गुरु घासीदासजी के बताये सत्य मार्ग पर चलने की आवश्यकता है।

संदर्भ

1 विपिन चन्द्र, आजादी के बाद भारत, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1998 पृ. 582।

2 राजेन्द्र प्रसाद शुक्ल, सत्यान्वेषी गुरु घासीदास सतनाम दर्शन स्मारिका, 2002, पृ. 3।

3 https://www.forwardpress.in/2018/05/snataniyo-se-satnami-tak-ki-yatra-guru-ghasidas/Mohan Das Nemisrai 22/05/2018

4 घासीदास स्मृति पत्रिका, दिनांक 18 दिसम्बर 1958, पृ. 34।

5 http://www.jagatgurusatnampanth.com/pages/satnam_dharm.php

6 ए. ई. नेलसन, रायपुर डिस्ट्रीक्ट गजेटियर,पृ.80।

7 चिशम, जे. बी., रिर्पोट ऑन द लैण्ड रैवेन्यू सेटलमेंट ऑफ द बिलासपुर डिस्ट्रिक्ट, 1868, गर्वनमेंट पब्लिकेशन, पृ. 47।

8 संगीता शर्मा, रायपुर जिले में सतनामी संस्कृति का विकास, लघुशोध प्रबंध, पं. र. वि. वि. रायपुर, 1987–88, पृ. 65–66।

9 जे. बी. चिशम, रिर्पोट ऑन द लैण्ड रैवेन्यू सेटलमेंट ऑफ द बिलासपुर डिस्ट्रिक्ट, 1868, गर्वनमेंट पब्लिकेशन, पृ. 47।

10 ए.ई. नेलशन, सेन्ट्रल प्राविसेंस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, रायपुर, डिस्ट्रिक्ट, ब्रिटिश प्रेस, बम्बई, 1909, (रिप्रिंट) गवर्नमेंट ऑफ मध्यप्रदेश, भोपाल, 1997, पृ. 80।

11 जे.आर. सोनी, सतनामी के अनुयायी, 1995, पृ.139–141।

12 रामकुमार बेहार, छत्तीसगढ़ का इतिहास, छत्तीसगढ़ राज्य हिन्दी ग्रंथ हिन्दी अकादमी, रायपुर, 2009, पृ. 292।

13 डी. एन. खूंटे, सहायक प्राध्यापक, इतिहास विभाग, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर से साक्षात्कार दिनांक 22 फरवरी 2020।

14 घनाराम डी., सतनामी इतिहास एवं गुरु घासीदासजी का जीवन दर्शन(सत्यदर्शन), 1993, पृ. 42–43।

15 वही, 1993, पृ. 40।

16 गायत्री साहू, ''छत्तीसगढ़ में प्रचलित पंथी लोकगीतों का सांस्कृति अनुशीलन''; शोध प्रबंध, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर, पृ. 141।

17 इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, जिल्द 11,पृ. 210।

18 वही।

19 आभा पाल, इतिहास विभाग, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर से साक्षात्कार दिनांक 22 फरवरी 2020।

20 के.एस. परिहार, प्राध्यापक इतिहास, कवर्धा से साक्षात्कार दिनांक 20 फरवरी 2020।

21 आभा पाल, पूर्वोद्धृत।

राजस्थान की लोक संस्कृति में पर्यावरण संरक्षण

ज्योत्स्ना*

समाज निर्माण के प्रारम्भिक चरण में मानव तथा प्रकृति के मध्य एकात्मकता थी। मानव खान–पान, वस्त्र, आवास आदि से सम्बन्धित सभी आवश्यकता की पूर्ति प्रकृति से कर लेता था। उस युग में मानव की आवश्यकताएँ भी सीमित हुआ करती थीं। जैसे–जैसे मनुष्य विकास के पथ पर अग्रसर हुआ, उसकी आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं तथा इन बढ़ती हुई जरूरतों ने नई खोजों के मार्ग को प्रशस्त किया। जनसंख्या में वृद्धि होने लगी तथा प्राकृतिक संसाधनों को प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता शुरू हुई। भारतीय समाज में धरती को माता माना गया है। भारतीय समाज का दर्शन पर्यावरण के मूल तत्वों पर ही आधारित है।[1]

जहां तक राजस्थानी लोक संस्कृति की बात है तो हमारे पूर्वजों ने प्रकृति को सम्मान दिया, आदर किया। प्रकृति के प्रति इस सम्मान को बनाए रखने तथा उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु लोक–गीतों, कहानियों, मुहावरों, त्योहारों, प्रतीकों का सहारा लिया गया। राजस्थान की इस वीर प्रसूता धरा ने सिर्फ देश पर मरने वाले वीर ही पैदा नहीं किए बल्कि वृक्षों के लिए अपनी जान कुर्बान कर देने वाले वीर नर–नारी भी पैदा किए हैं।

राजस्थान की लोक संस्कृति में पर्यावरण संरक्षण का इतिहास

गुरु जांभोजी जिन्हें जंभनाथ जी भी कहा जाता है उनके द्वारा विश्नोई सम्प्रदाय की स्थापना की गयी। गुरु जांभोजी का जन्म पीपासर (नागौर) में जन्माष्टमी के दिन पंवार वंशीय राजपूत के घर हुआ। इन्होंने

*सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान, स्वामी विवेकानन्द राजकीय महाविद्यालय, खेतड़ी

अपने अनुयायियों को निर्गुण निराकार ब्रह्म के रूप में विष्णु की उपासना का उपदेश दिया। साथ ही 29 नियमों के पालन का भी उपदेश दिया। विश्नोई समाज द्वारा अपने गुरु जी के इन वचनों को चरितार्थ किया गया है –

''जीव दया पालणी, रूख लीला नहीं धावें।
करे रूंख प्रतिमाल, खेजड़ा रखत रखावें।''

इन उपदेशों में जीवों पर दया करना, हरे वृक्षों को ना काटना, चरित्र की पवित्रता बनाए रखना इत्यादि प्रमुख हैं। इन उन्तीस (बीस+नौ) नियमों के कारण यह सम्प्रदाय विश्नोई सम्प्रदाय कहलाया। खेजड़ी, जिसे शमी वृक्ष भी कहते हैं, विश्नोई सम्प्रदाय आज भी इनकी रक्षा करता है। यह सम्प्रदाय पर्यावरण संरक्षण हेतु प्राणों का बलिदान तक कर देने के लिए प्रसिद्ध है। खेजड़ी वृक्ष की रक्षा के लिए स्वेच्छा से प्राणोत्सर्ग को स्थानीय भाषा में ''खड़ाणा या साका'' कहते हैं।[2] जांभोजी की शिक्षाओं का विश्नोइयों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इसलिए इस सम्प्रदाय द्वारा माँस व शराब का सेवन नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त वे अपनी ग्राम की सीमा में किसी पशु का शिकार नहीं होने देते। पूर्व में प्रत्येक विश्नोई गांव में एक पंचायत होती थी जो व्यक्ति को नियम विरुद्ध कार्य करने से रोकती थी। यदि कोई व्यक्ति नियम विरुद्ध कार्य करता था तो पंचायत द्वारा उसके विरुद्ध कार्यवाही की जाती थी। विश्नोई गांव किसी भी व्यक्ति द्वारा खेजड़ी की हरी डाली नहीं काटी जाती। राजस्थान के राजा महाराजा भी इस सम्प्रदाय की परम्पराओं को मान्यता देते हैं तथा उसके धार्मिक विश्वासों का ध्यान रखते हैं।[3]

इसी प्रकार राजाराम सम्प्रदाय ने ना केवल जातिगत संकीर्णता से ऊपर उठकर मानवता तथा भाईचारे का संदेश दिया है बल्कि विश्नोई सम्प्रदाय की तरह हरे वृक्षों का ना काटने का संदेश भी दिया है। इस सम्प्रदाय का प्रारंभ संत राजाराम ने किया।[4]

जोधपुर के रामासड़ी गांव में विश्नोई महिलाओं करमा और गोरा ने अपने गुरु की शिक्षा का पालन करते हुए खेजड़ी काटने के विरोध में अपना जीवन बलिदान कर दिया था। यह घटना है जेठ वदी दूज, संवत्

1661 की। यह घटना समूचे विश्व में वृक्षों की सुरक्षा हेतु प्राण बलिदान कर देने का अपना पहला उदाहरण है।[5]

इसी प्रकार का दूसरा साका नागौर जिले में हुआ। संवत् 1700 के चैत्र बदी तीज को मेड़ता परगने के पोलावासा में राजोद गांव के ठाकुरों द्वारा होली जलाने के लिए वृक्ष काटने के विरोध में बूचोजी ने तलवार से अपनी गर्दन कटवा दी।[6]

इससे भी महत्वपूर्ण घटना घटी–जोधपुर के एक गांव खेजड़ली 1730 ई. (विक्रमी संवत् 1787) में। यह वह जगह है जहां से चिपको आन्दोलन की उत्पत्ति हुई थी। उस समय जोधपुर के महाराजा अजीत सिंह थे। उन्हें अपने नए महल के निर्माण के लिए खेजड़ी के वृक्षों की लकड़ियों की आवश्यकता थी। खेजड़ली गांव में खेजड़ी के वृक्ष अत्यधिक थे। अतः महाराजा के पुत्र अभय सिंह के आदमी इन वृक्षों की खोज में यहाँ तक आए। राजा का आदेश सुनकर अमृता देवी अत्यन्त क्रोधित हो उठीं। अमृता देवी विश्नोई सम्प्रदाय में ही जन्मी तथा पली बढ़ी थीं। उन्हें पर्यावरण से अत्यधिक प्रेम था। उन्हें अपने गुरुजी का उपदेश भली–भांति याद था। अमृता देवी ने सैनिकों के खिलाफ विरोध भी किया। उन्होंने कहा था –

"सिर सांटे रुंख रुंके तो भी सस्तों जाण"

यानि सिर कटवा कर यदि एक भी वृक्ष बच जाए तो भी इसे सस्ता सौदा जानिए।

जब विरोध का सैनिकों पर कोई असर नहीं हुआ तब वह 3 मासूम बेटियों–आसु, रतनी, भागु के साथ पेड़ों की रक्षा के लिए पेड़ों से लिपट गईं। महाराजा के सैनिकों द्वारा कुल्हाड़ी से वार करने पर उनकी मृत्यु हो गई। ना सिर्फ अमृता देवी ने बल्कि उनकी तीन मासूम पुत्रियों ने भी पेड़ों की रक्षा के लिए अपना बलिदान दे दिया। यह खबर जैसे ही गांव में फैली, अन्य व्यक्ति भी वृक्षों की रक्षा के लिए एकजुट होते गए तथा देखते ही देखते 363 विश्नोइयों (जिनमें 74 नारी तथा 289 नर थे) ने अपने सिर कटवा दिए। जब महाराजा अभय सिंह को इस खबर का पता चला तो

उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने ना केवल अपने अधिकारियों द्वारा की गई गलती के लिए क्षमायाचना की, बल्कि पेड़ काटने तथा शिकार करने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए ताम्रपत्र पर एक आदेश भी जारी किया गया जिसमें इन नियमों का उल्लंघन होने पर दण्ड की व्यवस्था का उल्लेख था।[7]

इन वीर शहीदों की स्मृति में यहॉ मन्दिर तथा स्मारक बनाया गया। अमृता देवी के नाम पर भाद्रपद शुक्ल दशमी को खेजड़ली में पर्यावरण संरक्षण मेला लगता है। इस मेले में हजारों व्यक्ति एकत्रित होते हैं। इन वीर शहीदों के प्रति श्रद्वांजलि अर्पित करते हैं। राजस्थान सरकार का वन विभाग अमृता देवी के नाम पर अमृता देवी विश्नोई स्मृति पुरस्कार प्रदान करता है। अमृता देवी की स्मृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए 12 सितम्बर 1978 को पहला खेजड़ली दिवस मनाया गया। तब तत्कालीन वन मण्डल अधिकारी द्वारा इस गांव में 363 वृक्षों का रोपण किया गया। उत्तर भारत के ''चिपको आन्दोलन'' की बात की जाए या कर्नाटक के ''अप्पिको आन्दोलन'' की, ये आन्दोलन खड़ाणा या साका से प्रेरित रहे हैं।[8]

वृक्षों की रक्षा के लिए आत्म बलिदान की इसी प्रकार की एक और घटना हुई जो कि जोधपुर जिले के तिलासणी गांव में हुई। किरपों भाटी द्वारा जब वृक्ष काटे जा रहे थे तब खींवजी, मोटो व नैतू नैण ने इसका विरोध करते हुए अपने प्राणों का बलिदान कर दिया।[9]

इस प्रकार हमारी लोक आस्थाएँ प्रकृति तथा पर्यावरण से हमारे गहरे सम्बन्ध की सूचक हैं। हमारे संतों, आम जन–जीवन द्वारा वृक्षों के, जीव–जन्तुओं के महान् योगदान को स्वीकार किया गया है। भले ही लोकजीवन में गीत–संगीत, मान्यताएँ, रूप–रंग, भिन्न–भिन्न हों लेकिन सभी में एक बात समान है कि वे प्रकृति का संरक्षण तथा उसकी उपासना करते हैं। पर्यावरण की रक्षा के लिए अपना जीवन बलिदान कर देने के रूप में राजस्थान के लोक जनजीवन के पर्यावरणीय संवेदनशीलता की ये घटनायें प्रेरणास्पद उदाहरण हैं।

संदर्भ

1. सुनीता नारायण, पर्यावरण की राजनीति, सेंटर फोर सांइस एण्ड एनवायरमेंट, 2012, पृ. 46
2. वी.एस. सक्सेना, पर्यावरण परिरक्षण एवम् वानिकी, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, 2019 पृ. 315
3. डॉ. एस.एल. नागौरी, कांता नागौरी, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, मलिक एण्ड कम्पनी, पृ. 113
4. डॉ. एस.एल. नागौरी, कांता नागौरी, राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, मलिक एण्ड कम्पनी, पृ. 114
5. राजस्थान सुजस, सूचना एवम् जनसम्पर्क विभाग, 20 जून 2020, पृ. 55
6. राजस्थान सुजस, सूचना एवम् जनसम्पर्क विभाग, 20 जून 2020, पृ. 55
7. वी.एस. सक्सेना, पर्यावरण परिरक्षण एवम् वानिकी, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, 2019 पृ. 316,317
8. राजस्थान सुजस, सूचना एवम् जनसम्पर्क विभाग, 20 जून 2020, पृ. 55
9. राजस्थान सुजस, सूचना एवम् जनसम्पर्क विभाग, 20 जून 2020, पृ. 55

मेवाड़ में स्वाधीनता आन्दोलन व सी. आई. डी. रिपोर्ट – एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण

डॉ. दिलीप कुमार गर्ग*

साहित्य, पत्र–पत्रिकाएं, भारतीय लेखक–चिंतक एवं राष्ट्रवादियों के विचार तो ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ भारतीय जनमानस को उभारते ही हैं, किन्तु अंग्रेजी विद्वान लेखक इतिहासकार, साहित्यकार, जो भारतीय राष्ट्रीयता को नकारते हैं, उन्हीं का सरकारी महकमा अर्थात् तत्कालीन इंटेलीजेंसी एवं सी.आई.डी. रिपोर्ट मेवाड़ वासियों की भारतीय राष्ट्रीयता की भावनाएं, स्वाधीनता के प्रति जागृति, अंग्रेजी साम्राज्य के खिलाफ जबरदस्त विचार, एवं हिन्दुस्तान के प्रति लगाव को बड़े रोचक एवं तथ्यपूर्ण ढंग से दर्शाती है।

प्रस्तुत शोध–पत्र 1944 ई. की सी.आई.डी. रिपोर्ट पर आधारित है।[1] प्रजामण्डल एवं राजनैतिक कार्यकर्ताओं की हिन्दुस्तान के किसी विषय या विशेष घटना के संस्मरण में मीटिंग होती थी, उस समय उपस्थित कोई एक कार्यकर्त्ता सभापति के लिए किसी व्यक्ति का नाम प्रस्तावित करता था, जिसका अनुमोदन उपस्थित अन्य कार्यकर्त्ता करता था। ऐसी प्रजातांत्रिक भावनाएं यहां देखने को मिलने लगीं।[2] इन सभाओं में पुरुषों के साथ महिला कार्यकर्त्ताएँ भी उपस्थित होती थीं, जिनके द्वारा राष्ट्रभक्ति पूर्ण गायन किया जाता था। इनके गायन में राष्ट्रीय चरित्र एवं राष्ट्रीय व्यक्तित्व झलकता है जैसा कि –

"किसने छीना है मेरा प्यार वतन जिसके लिए लाखों मर गये।
प्यारे भगत अभी क्यों गये, उधर देखा बाबा तिलक भी गये।।

*प्रधानाचार्य, राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, दहगांवा बयाना, भरतपुर (राज.)

लाला मोती सरीखे व नेहरू गये, तुझसे शहीदों ने सींचा है प्यारा चमन।

भेजा है जिसने नेता को जेल, समझा है उन्होंने गुड़ियों का खेल।।

फांसी को झूला बनाएंगे हम, फिर भी क्या आजाद न होंगे हम।

उजड़ा हुआ गुलशन फिर क्या होगा न चमन।।[3]''

उपर्युक्त गायन से माणिक्य लाल वर्मा के सभापतित्व में तीन अप्रैल 1944 को सुबह नौ बजे से 12 बजे तक राजस्थान कार्यकर्त्ता सम्मेलन[4] आरम्भ हुआ था। इस सभा में हिन्दुस्तान के प्रति राष्ट्रीय भावनाएं झलकती हैं। ब्रिटिश साम्राज्य की शोषण की नीति की वजह से कई लोगों ने सरकारी नौकरी छोड़ दी थी और राष्ट्रसेवा एवं देश की स्वाधीनता में अपने को अर्पित कर दिया था।[5] जैसाकि एक सभा में अंग्रेज विरोधी भावनाएँ व्यक्त हुईं –

''हमने निश्चय कर लिया है गांधी को जब तक जेल में रखेंगे, हम अंग्रेजों के युद्ध प्रयत्नों में बाधा डालेंगे, चाहे देश को स्वतंत्र करने के लिये हमें कुछ भी करना पड़े .....हिन्दुस्तान में इतना अनाज पैदा होते हुए भी लाखों आदमियों को, जो अंग्रेज भूखों मार सकते हैं, ऐसे अंग्रेजों का साथ देने वाले चाहे राजा हों या प्रजा घृणा, के पात्र हैं.....अंग्रेजों को देश से बाहर निकालना जरूरी है।''[6]

इन सभाओं के दौरान भारत को नवीन राष्ट्र बनाने पर परिचर्चाएं होती थीं कि भारतीयों को संगठित होकर अपने आपको शक्तिशाली बनाना बहुत जरूरी है ताकि ब्रिटिश सरकार के शोषण का खात्मा किया जा सके। मींटिग में ब्रिटिश गुलामी के खिलाफ रोष देखने को मिलता है जैसाकि एक कार्यकर्त्ता ने मीटिंग को संबोधित करते हुए कहा –

''मेवाड़ी भाइयो ! गुलामी का झंडा कंधों से हटाना पड़ेगा और हमें हमारे राष्ट्र का निर्माण नये रूप में करना होगा। हम यह नहीं चाहते कि गवर्नर हमारी छाती पर बैठकर हुक्म दे। हमको ताकतवर बनने की जरूरत है और मेवाड़ के महाराणा जब देखेंगे

कि मेरी रियासत मेरा साथ देने को तैयार है तो वह भी कोई परवाह किये बिना आपका साथ देंगे। इसलिए आप संगठन करें व नये आंदोलन की ओर बढ़ें।''[6]

सुन्दर एवं सकारात्मक सोच यहां देखने को मिलती है कि हमें अपने आप में सुधार लाना जरूरी है। सन् 42 के आंदोलन की वजह से गांधी को जेल में डाल दिया गया, किन्तु गांधी के आदर्श, उनके रचनात्मक कार्यक्रम, उनके कार्य के तरीकों से मेवाड़वासी, यहां के प्रजामण्डल कार्यकर्त्ता अनभिज्ञ नहीं थे। जनमानस की रग–रग में गांधी बस चुके थे, और सभाओं में गांधी का नाम लिया जाता था। जैसाकि शाहपुरा सभा में एक कार्यकर्ता ने कहा– ''महात्मा गांधी ने भारत को आजाद करने के लिए दिन–रात परिश्रम का बीड़ा उठाया, भारत जैसे देश का संगठन कर ब्रिटिश सत्ता से लोहा लेना मामूली बात नहीं है। सन् 1922 का सत्याग्रह आंदोलन किया गया, लेकिन मतलब पूरा नहीं हुआ..... आखिरी आंदोलन 42 में शुरू हुआ..... रियासत के लोगों ने खूब काम किया ..... लोग गांधी से बम्बई में मिलकर आए।''[8]

मेवाड़ के स्वतंत्रता प्रेमियों ने यह भी विश्लेषण कर लिया कि ब्रिटिश साम्राज्य को फतह करना अपने आप में बड़ी बात है, क्योंकि यह कोई सामान्य खेल नहीं है। गांधी से मेवाड़ जनमानस का परिचय इस कदर हो चुका था कि एक कार्यकर्त्ता ने अपनी भावनाएं प्रकट कीं – **''आज भारतवर्ष का कोई मनुष्य नहीं हैं जिसको महात्मा गांधी के नेतृत्व में विश्वास न हो, गांधी संसार को एक नया आदेश दे रहे हैं, हालांकि आदेश छोटा है मगर अर्थ बड़ा है।''[9]**

राजस्थान कार्यकर्ता सम्मेलन शाहपुरा में शामिल हुए लोगों का विश्लेषण था कि किसी मनुष्य की गुलामी के दौरान स्थिति ठीक नहीं होती है। चूंकि ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को हर प्रकार से गुलाम बनाया, शोषण किया, अन्याय की कोई सीमाएं नहीं रहीं, यह रोष जनमानस तक जा चुका था – **''भारत आज आजाद नहीं गुलाम है, महात्मा गांधी जेल में बंद हैं जो हमारी गुलामी का सूचक है .....अंग्रेजों**

ने हम पर क्या–क्या जुल्म किए उसका गुस्सा हमारे दिलों में भरा हुआ है, क्या हमको उसका बदला नहीं लेना चाहिए।''[10]

मेवाड़ स्वतंतत्रा प्रेमियों की सोच एवं विचारधाराएँ संकुचित न होकर विस्तृत एवं सम्पूर्ण हिन्दुस्तान के प्रति थीं और कार्यकर्त्ताओं ने सम्पूर्ण देश की परिस्थितियों का गहन अध्ययन किया, उन्हें समझा व मनन किया और भारतीय जनमानस पर अपनी प्रतिक्रियाएं भी दीं–

> **''अंग्रेज हिन्दुस्तान के लोगों का अपमान कर रहे हैं, जो गांधी पर इल्जाम लगा सकते हैं, मुझे ताज्जुब होता है कि हिन्दुस्तान के लोग कैसे खामोश बैठे हैं .....हम पर अंग्रेजों ने भारी जुल्म किये हैं।''[11]**

गांधी ने भारत में ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ आंदोलन के लिए कार्यक्रम नकारात्मक एवं सकारात्मक अथवा रचनात्मक रखे। मेवाड़ी जनमानस ने उन रचनात्मक कार्यक्रमों को खूब सराहा व प्रभावस्वरूप यहां पर उन्हें व्यवहार में भी लाया गया। उदयपुर में चरखा संघ की मीटिंग – 'राष्ट्रीय सार्वजनिक सप्ताह मनाने बाबत'[12] में उपस्थित कार्यकर्ताओं एवं लोगों की चर्चाओं के विषय थे कि साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त होने के लिए क्या उपाय किए जायें ? अंत में सम्पूर्ण परिस्थितियों एवं भारत की हालत के अनुसार निष्कर्ष निकाला कि अब संगठन बहुत जरूरी है, केवल बातें करने या लम्बी–लम्बी डींग हांकने से काम नहीं चलता है व्यावहारिक रूप से कार्य करना बहुत जरूरी है। जैसा कि–

> **''गुलामी साम्राज्यवाद से लोगों को कैसे छुड़ावें, खाली बातों से उत्तरदायी शासन प्राप्त नहीं होगा, इसके लिए संगठन जरूरी है, आज की परिस्थितियों में खास कार्य – रचनात्मक कार्यक्रमों को अपनाना है।''[13]**

द्वितीय विश्व युद्ध के समय गांधी द्वारा अंग्रेजों को कहा गया कि अंग्रेजो! भारत छोड़ो। भारत को जापानियों के लिए नहीं अपितु भारतीयों के लिए छोड़ो। इस कथन का प्रभाव भी यहां देखा गया। जैसा कि–

''हमें मोर्चा लेने के लिए शक्ति बढ़ानी चाहिए। मान लो जापान आता है तो क्या हम उनकी गुलामी में रहकर जीवन बितावें ? एक जालिम को छोड़कर दूसरे बदमाश का साथ देवें। जालिम तो हमारे लिए अंग्रेज है और बदमाश जापान। इसलिए हमें दोनों के पैर उखाड़ने के लिए तैयार रहना चाहिए।''[14]

प्रजामण्डल के कार्यकर्ताओं ने तत्कालीन ब्रिटिश सरकार द्वारा कानून, नियम–अधिनियम आध्यादेश, कमेटी, योजनाओं एवं उनमें भारतीयों के अनुसार विद्यमान दोषों का अध्ययन किया और बड़ी रोचकता के साथ उन्हें भारतीयों के खिलाफ सिद्ध करने की कोशिश की। वेवल योजना के सन्दर्भ में कहा गया –

''लार्ड वेवल ने जो चीज हमारे सामने रखी है, उसको पढ़ने पर भी हम शान्त बैठे हुए हैं, यह याद रखना चाहिए कि चमत्कार के बिना नमस्कार नहीं होता, हिन्दुस्तान स्वराज्य के लिए है।''[15]

मानक लाल नुवाल[16] का कहना था कि आज हमारे यहां राष्ट्र दिवस बड़े महत्व का है। गांधी हम चालीस करोड़ जन होते हुए भी जेल में हैं। मेवाड़ में तो महाराणा प्रताप ने ''जो दृढ़ राखे धर्म को तेही राखे करता'' मोटो बनाया।[17] अंत में ओजपूर्ण नारे लगाये गये –

''महात्मा गांधी की जय, भारत माता की जय

क्रांतिकारी अमर रहें, इंकलाब जिंदाबाद

अंग्रेजों का नाश हो, भारत आजाद हो''[18]

गांधी मेवाड़वासियों में इतने लोकप्रिय हो चुके थे कि 2 अक्टूबर को जन्म दिवस के रूप में विभिन्न स्थानों एवं विभिन्न संगठनों द्वारा मनाया जाने लगा, जहां तिरंगा झंडा फहराया गया और वन्दे मातरम् का गान गाया गया। इस अवसर पर मेवाड़ प्रजामण्डल के कार्यकताओं द्वारा भील व मीणाओं की स्थिति सुधारने के संबंध में विचार विमर्श भी किया गया।[19]

मेवाड़ प्रजामण्डल के कार्यकताओं एवं राष्ट्रवादियों ने प्रजातंत्र एवं उत्तरदायी सरकार की स्थापना व ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ महाराणा से कार्यवाही करने की अपील की। एक सभा के दौरान कहा गया –

''हम राणा को महाराणा प्रताप की तरह प्रातःस्मरणीय मानने को तैयार हैं बशर्ते कि ये प्रजा का पक्ष लेकर ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ युद्ध छेड़ दें.....हम भारतीय अंग्रेजों को हिन्दुस्तान से बाहर निकालना जरूरी समझते है, इसलिए राजा लोगों को इस काम में पूरा सहयोग देना चाहिए।''[20]

चूंकि देशी रियासतों पर भी ब्रिटिश साम्राज्य की गुलामी का शिंकजा कसा हुआ था, ऐसी स्थिति में राजाओं की स्वाधीनता भी धीरे–धीरे छिनती जा रही थी और इस दौर में उनका चुपचाप बैठना उनकी मजबूरी हो गयी क्योंकि विदेशी ताकत ने यहां की जनता के साथ साथ राजाओं को भी अपने शिकारी जाल में फंसा लिया था, बाद में अंग्रेजों ने उनकी इज्जत करना भी छोड़ दिया। इस सम्बन्ध में जनमानस का रुख था कि–

''अंग्रेजों ने राजा लोगों को बांध रखा है, चाहे मेवाड़ का राजा हो या अलवर। जब वो वाइसराय के सामने जाने का वक्त आता है, उनकी कोई इज्जत नहीं होती। ये राजा लोग ब्रिटिश सत्ता की इतनी गुलामी करने पर भी यह लोग (अंग्रेज) इनकी क्या हालत कर सकते हैं।''[21]

ऐसी दशा में इन राष्ट्रवादियों ने राजा महाराजाओं को भारतीय राष्ट्र की सेवा करने को प्रेरित करते हुए कहा कि वे जनता के साथ सहयोग करें, अन्यथा ब्रिटिश हुकूमत की गुलामी ही करनी पड़ेगी और जनहित के बिना कोई राजा नहीं रह सकता है। जनता व राज के मध्य बढ़ती हुई दूरियों की वजह अंग्रेज है। इस हेतु विश्व के अन्य देशों का उदाहरण देते हुए कहा गया कि –

''दुनिया में कोई राजा नहीं रह सकता, जिसने प्रजा के हाथ में अपनी सत्ता नहीं दी हो। आज जर्मनी, जापान, अमेरिका, रूस में राजा नहीं रहे। रियासतों के राज लोगों और मुसाहिवों सोच लीजिये, आप भी कायम नहीं रह सकते। जब अंग्रेज यहां से चले

जायेंगे, वे आप लोगों का साथ देने वाले नहीं है, प्रजा ही आपका साथ देगी.....ब्रिटिश सत्ता ने ही इन राजाओं और प्रजा के मध्य भेद पैदा किया है, जिसे हमको मिटाना होगा।''[22]

वास्तव में जनमानस इतना जागरूक हो चुका था कि यहां के राजाओं को अपनी सत्ता जनता को सोंपने हेतु प्रेरित किया एवं प्रजातंत्र व उत्तरदायी सरकार के लिए राजाओं को कदम उठाने को कहा क्योंकि इन अंग्रेजों के सामने ये राजा लोग केवल मूर्ति मात्र हैं, ऐसी स्थिति में यदि ये राजा–महाराजा अपनी भारतीय जनता के प्रति उत्तरदायी रहते हैं तो इसका दोहरा लाभ होगा। एक तो जनमानस की दृष्टि में उनका सम्मान पुनः कायम हो जायेगा और दूसरा विदेशी (ब्रिटिश) साम्राज्य के शोषण एवं गुलामी से मुक्ति मिल जायेगी।

यही नहीं राष्ट्रवादियों की चेतना गुलाम भारत की स्थिति, उनके लोगों की समस्याएं, उनके समाधान इत्यादि तक जा चुकी थी। भारत को गुलामी से मुक्त कराने की भावनाएं यहां देखने को मिलती हैं। यह भी सही है कि मनुष्य एक स्वतंत्र सामाजिक प्राणी होने के नाते गुलामी को बर्दाश्त नहीं कर सकता है। जैसाकि एक भाषण में कहा गया–

''आज देश के सामने बहुत सी समस्याएं मौजूद हैं। प्रत्येक हिन्दुस्तानी के नाते से मनुष्य का फर्ज है कि देश की आजादी के लिये मौजूदा गुलामी दूर करने में हाथ बंटाये, गुलाम देश को कितनी तकलीफें और कितने प्रतिबंध झेलने पड़ते हैं .....राजाओं को चाहिए कि अपना राज्य प्रजा के हाथों में सौंप दें ''[23]

मेवाड़वासी न केवल स्वाधीनता अपितु यहां सार्वजनिक विकास कार्यो की ओर भी ध्यान देने लगे और जब महाराणा द्वारा ब्रिटिश युद्ध कोष में लाखों रूपये जमा कराया गया और विकास के नाम पर कोई खर्च नहीं, ऐसे में यहां अभिव्यक्ति थी–

''उदयपुर में चार वर्ष पहले जो सड़कों की हालत थी, वो अब भी है, वार फंड (युद्ध कोष) में महाराणा ने लाखों रूपये दे दिये होंगे, मगर प्रजा के कार्यो में उतना खर्च नहीं किया जाता, विजय

राघवाचार्य ने सभा सोसायटी पर से जो प्रतिबंध हटाया है, उसके लिए विशेष धन्यवाद देने की कोई जरूरत नहीं। मीटिंग करने व बोलने का हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और ऐसी बातों को रोकना प्रजा के साथ अत्याचार है।''[24]

यह तथ्य प्रकट करता है कि मेवाड़ का जनमानस अपनी स्वाधीनता, बोलने व सभा करने की स्वतंत्रता के प्रति जागरूक हो चुका था। मेवाड़ सरकार द्वारा सभा सोसायटी पर प्रतिबंध हटाने को विशेष स्वागत योग्य नहीं माना क्योंकि मनुष्य के स्वतंत्र चिंतन पर यह प्रतिबंध नहीं हो सकता है।

13 अप्रैल 1919 का जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड आधुनिक भारतीय इतिहास की प्रमुख एवं स्मरणीय घटना थी, जो अंग्रेजों के दमन, शोषण एवं, उनकी जघन्यता एवं नृशंसता का प्रमाण था, जिसके संस्मरण में भारत में हर वर्ष राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाने लगा। ऐसे में मेवाड़ क्षेत्र में जनमानस द्वारा अप्रैल माह को राष्ट्रीय सप्ताह के रूप में बड़े धूमधाम से मनाया गया, कई रचनात्मक कार्यक्रम किये गये। 10 अप्रैल 1944 को सूरजपोल के बाहर चरखा संघ की ओर से राष्ट्रीय सप्ताह मनाया, जिसमें माणक्यलाल, मोतीलाल, मोहनलाल, परसराम, हीरालाल, जमनालाल, बलवंतसिंह, इत्यादि लगभग 150–200 लोग शामिल हुए[25] जिसके सभापति मनोहरलाल थे। इसी प्रकार 14 अप्रैल को पोरवाड़ों का नोहरा में राष्ट्रीय सप्ताह की सार्वजनिक मीटिंग रखी। इस सप्ताह को मनाने के पीछे उद्देश्य के संदर्भ में कहा गया कि –

''आज जो यह राष्ट्रीय पर्व मना रहे है, उसका नाम है राष्ट्रीय सप्ताह। यह त्यौहार आजादी की लड़ाई का है और यह बलिदान देकर मनाया जाता है, ... महायुद्ध में महात्मा जी ने अंग्रेजों का साथ इस शर्त पर दिया कि युद्ध के बाद हमें आजादी दी जावे..... लेकिन युद्ध के बाद ध्यान नहीं दिया और जब एक होकर जलियांवाला बाग में आजादी की पुकार कर रहे थे तब उन माताओं, बहिनों, आदमियों को मशीनगनों से भून दिया। आज हम

यह राष्ट्रीय त्यौहार नहीं मनाते, यह उसी बलिदानी का त्यौहार है।''[26]

केवल यही भावना थी जैसा कि– ''हम राष्ट्रीय सप्ताह इसलिए मनाते है, हमारा देश आजाद हो, हर हिन्दुस्तानी, चाहे वो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, हो, हर एक का यह फर्ज़ हो जाता है कि अपने देश को आजाद करे।''[27]

इसी प्रकार 9 अगस्त को भी राष्ट्रीय दिवस के रुप में मनाया गया जिसमें विद्यार्थियों द्वारा 'वन्देमातरम' का गान किया गया और तिरंगा झंडा फहराया गया।[28]

विदेशी हुकूमत से मुक्त होने की आंकाक्षा एवं ललक के साथ–साथ यहां सामाजिक एवं सकारात्मक कार्यक्रमों को व्यावहारिक रूप में लाया गया। सामाजिक एवं शैक्षिक दृष्टि से सुधार कैसे किया जाय, ताकि जनमानस सामाजिक–शैक्षिक दृष्टि से विकसित हो सके, इसके लिए सबसे पहले समाज में व्याप्त बुराइयों पर चर्चाएं की जाती थीं और इन्हें दूर करने के लिए कई समाधान उभरे, जैसाकि गोपीलाल[29] ने शराबखोरी व असामाजिकता को फैलाने वालों को सम्बोधित करते हुए कहा–

''आप लोग जो कुछ कमाते हैं, वह शाम पड़ते ही शराबखाने में दे आते हैं, इतनी गाढ़ी कमाई का पैसा ऐसी खराब चीजों में व्यय करते हैं और आपके बाल बच्चे भूखे मरते हैं, नशे में आप अनाप–सनाप बकने लगते हैं, इसलिए आप लोगों से मेरी प्रार्थना है कि आज आप सब मिलकर हमारे सामने शराब न पीने की प्रतिज्ञा करें।''[30]

मेवाड़ में जहां–जहां सभा सोसायटी की मीटिंग होती थी, वहां पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाते हुए महिलाएं[31] भी उपस्थित होती थीं। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उनमें जो सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना थी, वह वास्तव में काबिले–तारीफ है और ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ बोलना व समाज सुधार की बात करना अपने आप में बड़ी बात है।[32]

तत्कालीन समाज में व्याप्त छुआछूत के खिलाफ सुधारात्मक रवैया देखने को मिलता है[33] इसके लिए प्रजामण्डल कार्यकर्ताओं ने जनमानस को जाग्रत किया और अपने अकाट्य तर्कों द्वारा सिद्ध करने की कोशिश की कि समाज में कोई जाति–पांति, भेदभाव नहीं, अपितु सर्वप्रथम मानवता है।[34]

जैसा कि मीटिंग में चर्चा हुई –

''यदि इंसान गाय का दूध पी ले तो वह गाय नहीं बन जाता, इसी तरह अगर अछूतों को छू लें तो हम अछूत नहीं बन जाते है, सामाजिक बुराइयों को मिटाने के लिए मेवाड़ प्रजा मण्डल ने जन्म लिया है और हरिजनों के लिए कार्य कर रहा है।''[35]

मीटिंग के दौरान समानता की मिशाल तो यहां तक मिलती है कि उपस्थित सभी व्यक्ति एक ही जाजम पर बैठते थे।[36] ऐसे उदाहरण सिद्ध करते हैं यहां सकारात्मक सोच विकसित हो चुकी थी। कार्यकर्ता न केवल भाषणों में ही, अपितु उसे व्यवहार में भी लाते थे, यह अपने आप में विशिष्टता थी।

मेवाड़ में राष्ट्रीय सप्ताह, दिवस मनाने के साथ अन्य महत्वपूर्ण दिवस एवं अवसरों – प्रताप जयन्ती[37], टैगोर जयन्ती[38], जवाहरलाल नेहरू जयन्ती[39], गांधी जयन्ती[40] को बड़ी धूम–धाम से मनाये जाने के साथ–साथ इन अवसरों पर देश की परिस्थितियों पर चर्चाएं होती थीं। इस दौरान तिरंगा झंडा फहराया जाता था व वन्दे–मातरम् का गान किया जाता था। यहां की मीटिंग में जनमानस अत्यधिक संख्या में शामिल होता था। जैसा कि 14 अप्रैल को रोशनलाल वोड़िया के सभापतित्व में हुई मीटिंग में लगभग 400–500 लोग शामिल हुए थे।[41]

चूंकि मेवाड़ में निवास करने वालों में भीलों की जनसंख्या[42] का भी प्रमुख स्थान था, लेकिन उनकी आर्थिक हालत डांवाडोल थी, इसलिए ये लोग शादियों जैसे सामाजिक कार्यों के लिए महाजनों से ऋण लया करते थे, लेकिन जब चुका नहीं पाते तो इसकी भरपाई के लिए उम्र भर उसी महाजन की गुलामी में निकल जाती थी। कुछ भीलों के पास पहनने व

ओढ़ने के कपड़ों की कमी थी, ऐसी स्थिति में मेवाड़ प्रजामण्डल एवं राजनैतिक स्वाधीनता की मांग करने वाले कार्यकर्ताओं ने इस ओर सुधारात्मक व रचनात्मक कदम उठाया और ऐसे गरीब भीलों के बच्चों को शिक्षित करने के लिए उदयपुर में भील विद्यापीठ की स्थापना की, जहां लगभग 36 भील लड़के शिक्षा ग्रहण कर रहे थे।[43]

स्वाधीनता के लिए संगठन एवं रचनात्मक कार्यक्रमों के साथ–साथ यहां के स्वतंत्रता प्रेमियों ने समाज के अन्य क्षेत्रों में सुधार करने पर बल दिया जिसमें शिक्षा भी प्रमुख था। चूंकि शिक्षा के माध्यम से ही व्यक्ति का संम्पूर्ण विकास होता है, अतः मेवाड़ में शिक्षा व्यवस्था में सुधार पर बल दिया, इस पर भी जोर दिया कि शिक्षा का समाज में अधिक से अधिक प्रचार–प्रसार हो।[44]

देशभक्ति, राष्ट्रीय भावनाएँ, समाज सुधार की बातें, देश–प्रेम एवं गरीबों को प्रेरित करने वाले गीतों की मधुर आवाज तत्कालीन मेवाड़ियों की जागरूकता दर्शाती है–

''खून के हमारे प्यारे भूल न जाना।
खुशियों से हममें गम के आंसू बहाते जाना।।''[45]

एक अन्य गीत के शब्द –

''दुनिया में गरीबों को आराम नहीं मिलता।
रोते हैं तो हंसने का पैगाम नहीं मिलता।।''[46]

आजाद होने की आकांक्षाएं एवं अभिलाषाएं इस कदर हावी हो चुकी थीं कि कहीं पर आयोजित मीटिंग में ये बातें प्रस्फुठित हो जाती थीं। 12 अप्रैल 1944 को सुबह 8 से 10 बजे तक उदयलाल महात्मा के सभापतित्व में देवगढ़ में आयोजित सभा में लगभग 150 लोगों का जनमानस शामिल हुआ, जहां उभरकर सामने आया कि हमें किसी भी तरह से आजाद हो जाना चाहिए और बेगार नहीं देनी चाहिए।[47] इस सभा के दौरान मेवाड़ में शिक्षा को बढ़ावा देने वाला भी प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया कि ''लाईब्रेरी व मदरशों के लिए मेवाड़ स्टेट से रूपये मिलने चाहिए।''[48]

बम्बई के कृष्ण लाल वर्मा साहब ने विद्यापीठ उदयपुर में शिक्षा एवं पर्दा प्रथा पर अपने विचार अभिव्यक्त किये।[48]

ब्रिटिश साम्राज्य का आर्थिक शोषण इतना जबरदस्त था जिसकी वजह से यहां जनमानस में अंग्रेजों के खिलाफ रोष की बड़ी उग्र भावनाएं विद्यमान थीं, उनकी सोच यहां तक पहुॅच चुकी थी जैसाकि रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि हमारे किसान इतना अनाज पैदा करते हैं फिर भी स्वयं भूखे मरना पड़ता है इसके पीछे ब्रिटिश हुकूमत का शोषण है, ऐसे में हमें भारतीय होने के नाते नए सिरे से सोचना बहुत जरूरी है। सभा के दौरान उनके मध्य हुआ यह वार्तालाप सीधा हदय को झंकृत कर देता है –

''हमारी हालत क्यों गिरी हुई है? हमें सभा सोसायटी करने की क्यों इजाजत नहीं मिलती? हम लोग, इतना अनाज होते हुए भी, क्यों भूखें मर रहे हैं ? यह बात हमारे सोचने की है.....भारतीय होने के नाते से हम सबको सोचना चाहिए कि हमारा कर्तव्य क्या है? और हमें जागृति के आन्दोलन में भाग लेना चाहिए।''[50]

जब टी. विजय राघवाचार्य[51] ने सभा, सोसायटी करने की इजाजत दी तो कार्यकर्ता इससे ही संन्तुष्ट नहीं हुए, उनकी नजर में इस तरह बोलने का उनका पहला मौलिक अधिकार है। उनकी मांग उत्तरदायी शासन की थी, प्रतिक्रिया रही –

''राघवाचार्य यूरोप व अमेरिका में बहुत घूमे हैं उन्हें वहां के लोगों की आजादी मालूम है इसलिए इस मौके पर बोलने की जो आजादी दी है, धन्यवाद देता हूं, मगर साथ ही यह भी कहूंगा कि प्रजामण्डल पर से बैन हटायें, हमें अखबार निकालने, बोलने पर भी संतोष तभी होगा जब उत्तरदायी शासन स्थापित करें।''[52]

सी.आई.डी रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि मेवाड़वासी देश की परिस्थितियों, घटनाओं के साथ अंतर्राष्ट्रीयता से भी परिचित थे। अंग्रेजों के आगमन एवं यहां पर अधिकार जमाकर शोषण करने तक का सम्पूर्ण व गहन अध्ययन भी किया व निष्कर्ष निकाला कि देश की आपसी फूट व राजाओं द्वरा किये गये गैर आवश्यक कार्यो की वजह से भारतीय पराधीन हुए संगठन का अभाव रहा। राजाओं ने मिलकर ब्रिटिश हुकूमत का कभी मुकाबला भी नहीं किया जैसाकि – ''देश की बेवकूफी ने हिन्दुस्तान को

पराधीन कर रखा है आज चालीस करोड़ लोगों के अंतरंग में यह भावना जाग्रत हो चुकी है कि देश स्वतंत्र हो जावे.....आजादी के लिए हमें बहुत बड़ी, लम्बी तैयारी करनी पड़ेगी।''[53]

इस प्रकार स्पष्ट है कि मेवाड़ रियासत का जनमानस हिन्दुस्तान के प्रति लगाव, राष्ट्रीय चेतना, गुलामी से आजाद होने की उत्कण्ठा लिए हुए एवं ब्रिटिश हुकूमत को भारत से उखाड़ने को तत्पर था। यहां की सोच एवं विचार मेवाड़ तक ही सीमित न होकर भारत एवं विश्व की मानवता तक पहुंच चुकी थी। आजादी हासिल करने के लिए संघर्ष के साथ–साथ समाज में व्याप्त बुराइयों को सुधारने की ओर अग्रसर हुए, विशेषतः शिक्षा के प्रचार–प्रसार द्वारा समाज में जागृति फैलाना साथ ही समानता, स्वाधीनता, व उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने की तीव्र मांग की और भारतीयों को संगठित होकर ब्रिटिश हुकूमत से लड़ने के लिए आह्वान किया। भारत एवं विश्व में घटने वाली घटनाओं का भी गहन अध्ययन किया। आजाद भारत की वर्तमान सरकारें शिक्षा में सुधार एवं साक्षरता की बातें करती हैं, उन्हें मेवाड़वासी बड़े व्यवस्थित रूप में आज से 64 साल पहले अपना चुके थे। अंत में वास्तव में मेवाड़ रियासत की जनता में राष्ट्रीयता की भावनाएं कूट–कूट कर भरी हुई थीं। ये तथ्य सिद्ध करते हैं कि इतिहास ही वह साधन है जिसके आधार पर हमारी विरासत, कर्तव्य, जीवन जीने की कला, प्रेरणा व जागृति का भान होता है।

संदर्भ

1. अप्रैल 1944 ई. से अक्टूबर 1944 ई. तक की सी. आई. डी. रिपोर्ट।

2. मेवाड़ गवर्नमेंट उदयपुर, महक्मा खास, फाइल नं. 16/3, 1944, Confidential intelligence Report for Rajaputana States नक्ल रिपोर्ट इस्पेक्टर सी.आई.डी. ता. 3–4–44 शाहपुरा में राजस्थान कार्यकर्ता सम्मेलन में भूरेलाल बाया ने माणिक्यलाल वर्मा को सभापति हेतु प्रस्ताव रखा, जिसे भवानीशंकर वैद्य ने अनुमोदित किया, पृ. 20.

3. वही, पृ. 20.

4. वही, लगभग 3000 दर्शकगण, जिसमें कुछ महिलाएं उपस्थित शामिल थे, पृ 20–21.

5. वही, दांते साहब– उज्जैन के अनुभव, पृ. 21.

6. वही, पृ. 22.

7. वही, सी.आई.डी. रिपोर्ट ता. 14.4.1944 – चरखा संघ को मीटिंग में माणिक्य लाल वर्मा का भाषण, पृ. 58, 59, 60, 61.

8. वही, सी.आई.डी. रिपोर्ट ता. 3.4.1944–शाहपुरा में आयोजित राजस्थान राजनैतिक कार्यकर्ता सम्मेलन में दांते साहब का भाषण, पृ. 21–22.

9. वही, शरबरे साहब इंदौर का भाषण, पृ. 22–23.

10. वही, भोलानाथ का भाषण पृ. 23.

11. वही– राजस्थान के गांधी गोकुल भाई भट्ट का भाषण, पृ. 24.

12. वही, नकल रिपोर्ट सी.आई.डी. 14.4.1944 – 14 अप्रैल को पोरवाड़ों के नोहरा में रात पोने आठ से सवा नौ बजे तक सभा हुई, पृ. 58

13. वही, माणिक्य लाल वर्मा का भाषण, पृ. 59.

14. वही, चरखा संघ की ओर से राष्ट्रीय सप्ताह की सार्वजनिक मीटिंग, वर्मा का भाषण, पृ. 61.

15. वही

16. वही, नकल रिपोर्ट, सी.आई.डी. बनेड़ा ता. 7.4.1944– प्रजामण्डल मीटिंग बावत– बनेड़ा में आयोजित प्रजामण्डल मीटिंग के सभापति पृ. 66, 78.

17. वही, पृ. 79.

18. वही, पृ. 69, 79.

19. वही, फाइल नं. Confidential Fortnightly Inteligence Repost of Rajputana State for Second Half of Oct. 1944, p. 50.

20. वही, फाइल न. 16/3 of 1944, Confidential Intelligence Report for Rajputana State नकल रिपोर्ट इन्सपेक्टर, सी.आई. डी.3.4.1944 – दांते साहब का भाषण– पृ. 21, 22.

21. वही, नकल रिपोर्ट इन्सपेक्टर सी.आई.डी. 3.4.1944 – शाहपुरा मीटिंग में अलवर से आये हुए भोलानाथ का भाषण– पृ. 23, 24.

22. वही, जयपुर के देश पाण्डे के विचार, पृ. 25.

23. वही, हरिश्चंद्र का भाषण, पृ. 26.

24. वही

25. (क) वही नकल रिपोर्ट इंन्सपेक्टर सी.आई.डी. 10.4.1944 चरखा संघ की ओर से हरिजन स्कूल सूरजपोल बाहर, हरिजन सुधार का राष्ट्रीय सप्ताह, पृ. 37

(ख) वही, फाइल न 40, 1944, Confidential – Fort nightly Intelligence Reports of Rajputana States Second Half of April 1944, p. 18.

26. वही, फाइल न. 16/3 of 1944, Confidential Intelligence Report for Rajputana State नकल रिपोर्ट सी.आई.डी. 14.4.1944 – पोरवाड़ों का नोहरा में आयोजित मीटिंग में मोहनलाल सुखाड़िया का भाषण, पृ. 62–63.

27. वही, माणिक्य लाल वर्मा की अभिव्यक्ति, पृ. 58–59.

28. वही, फाइल न. 40 of 1944, Confidential for nightly Intelligence Reports of Rajputana States First Half of Auguest 1944, p. 40.

29. वही, फाइल नं. 16/3 of 1944, Confidential Intelligence Report for Rajputana State. नकल रिपोर्ट इंस्पेक्टर सी.आई.डी. 10.4.1944 – हरिजन सेवक संघ के मंत्री एवं हरिभाऊ उपाध्याय के साले, चरखा संघ द्वारा मनाये गये राष्ट्रीय सप्ताह में शामिल – पृ. 37.

30. वही, पृ. 38.

31. वही– ये सी.आई.डी. रिपोर्ट दर्शाती है कि महिलाओं के द्वारा वन्दे मातरम् का गान किया गया, उन्हें अपने विचार अभिव्यक्त करने का मौका दिया जाता था– पृ. 20, 21, 38.

32. वही, – विजय मांनागर नामक महिला, पृ. 38.

33. वही, चरखा संघ की मींटिग के दौरान विजय मांनागर नामक महिला का भवन, पृ. 38.

34. वही, – चरखा संघ की मीटिंग में बाबूलाल सोनी का वक्तव्य, पृ. 38.

35. वही, – रामचंद्र की कविता का सारांश – पृ. 37.

36. वही

37. वही, फाइल नं. 40 of 1944 Confidential for nighty Intelligence Reports of Rajputana States Second Half 1944, पृ. 26.

38. वही, First Half of May 1944, पृ. 23.

39. वही, Second Half of May 1944, पृ. 23.

40. वही, Second Half of May 1944, पृ. 23.

41. वही, फाइल नं. 16/3 of 1944 Confidential for nighty Intelligence Reports of Rajputana States नकल रिपोर्ट इन्सपेक्टर साहब सी.आई.डी. 14.4.1944, पृ. 65.

42. वही, माणिक्य लाल वर्मा का भाषण कि मेवाड में लगभग चार लाख भीलों की जनसंख्या है, पृ. 60.

43. (क) वही, पोरवाड़ो का नोहरा में माणिक्य लाल वर्मा का भाषण, पृ. 59 से 63.

(ख) वही, फाइल नं. 4 of 1944 Confidential for nighty Intelligence Reports of Rajputana States Second Half of Jun-1944, पृ. 32.

44. वही, इन्दरलाल का भाषण – पृ. 6.

45. वही, फाइल नं. 16/3 of 1944 Confidential for nighty Intelligence Reports of Rajputana States 1944, नकल रिपोर्ट इन्सपेक्टर सी.आई.डी. ता. 14.4.1944 – गोपाल भील के गीत का सांराश।

46. वही–सादिक हुसैन बोहरा का गान, पृ. 61

47. वही – ता. 19.4.1944 नं. 12 देवगढ़ नकल, उदयलाल महात्मा का भाषण – पृ. 86.

48. वही– डगरसिंह मेहता का प्रस्ताव – पृ. 87

49. वही, फाइल नं.16/3 of 1944 Confidential for nighty Intelligence Reports of Rajputana States 1944 of Second Half of May.

50. वही, फाइल न. 16/3 of 1944 नकल रिपोर्ट इन्सपेक्टर सी.आई. डी. 3.4.1944, भोलानाथ का भाषण, पृ. 23.

51. मेवाड़ राज्य के तत्कालीन प्रधानमंत्री।

52. वही, फाइल नं. 16/3 of 1944 Confidential for nighty Intelligence Reports of Rajputana States 1944 नकल रिपोर्ट इन्सपेक्टर साहब सी.आई.डी. 3.4.1944,देश पाण्डे का भाषण, पृ. 24.

53. वही, वही – हीरालाल शास्त्री का भाषण, पृ. 27–28.

मुगलकालीन अश्वारोही सेना

डॉ. यश कुमार*

मुगल शासकों की सेना का मुख्य आधार घुड़सवार सैनिक थे। आरंभ में इनका संगठन बड़ी ही अव्यवस्थित दशा में था। बाबर और हुमायुँ ने केवल योद्धा सैनिकों की टुकड़ियों पर सैन्य व्यवस्था को बनाए रखा और प्रत्येक योद्धा सैनिक को उसके महत्व के अनुरूप ही वेतन दिया। इन दोनों शासकों के युग में साम्राज्य इतना अधिक विस्तृत भी नहीं था कि किसी व्यवस्थित सैनिक संगठन की आवश्यकता पड़ती। परंतु ये स्थिति अकबर के शासन काल में बदलने लगी थी।

मुगल सेना वस्तुतः घुडसवारों की फौज थी। आमु (Oxus) नदी के पार वाले मुगल केवल घोड़ों की पीठ पर सवार होकर लड़ने के अभ्यस्त थे। बाबर स्वयं एक अच्छा घुड़सवार था और एक समय में पाँच घुड़सवार सैनिकों का सामना कर सकता था। उसने एक बार समरकन्द पर मात्र 24 घुड़सवार सैनिकों के बल पर विजय प्राप्त की थी।[1] हुमायुँ भी एक अच्छा घुड़सवार था परंतु अकबर उससे कहीं अधिक बेहतर सवार था। एक बार अकबर ने आगरा से अजमेर की 220 मील की यात्रा एक दिन में की थी और अगले दिन वो राजधानी लौट भी आया था। अकबर ने एक आदेश निकाल कर यह अनिवार्य किया था कि सैनिक के घोड़े की मृत्यु होने पर जल्दी ही उसे नया घोड़ा लाना होगा तथा प्रत्येक दो वर्ष में पुराने घोड़े के स्थान पर नया घोड़ा सरकार द्वारा दिया जाएगा।[2]

मुगल अभियानों में घुड़सवारों की संख्या ही अधिक रहती थी। 1645 ईस्वी में जो अभियान बल्ख और बदख्शा भेजा गया था उसमें पचास हजार तो केवल घुड़सवार सैनिक थे वहीं पैदल सैनिकों की संख्या मात्र दस हजार थी।[3] इसी प्रकार अकबर और जहाँगीर के समय कुछ मुगल

*सहायक आचार्य, इतिहास विभाग, न्यू लूक कन्या पी. जी. महाविद्यालय, बाँसवाडा (राज.)

सेनानायक तो अपने ''घुड़सवार कौशल'' के कारण बादशाह के विशेष प्रिय बन गए थे। अब्दुर्रहीम खान–ए–खाना ने मात्र दस हजार अश्वारोहियों की मदद से गुजरात के शासक मूसा शाह को 1593 के मोरवी के युद्ध में पराजित किया था जबकि मूसा शाह के पास चालीस हजार घुड़सवारों की सेना थी।[4]

मुगल घुड़सवार सेना निम्न वर्गों में बँटी हुई थी–

1. **राजकीय अधिष्ठान–** यह एक चयनित टुकड़ी होती थी जिसके सैनिक सभी सेनांगों से उत्कृष्टता के आधार पर चुने जाते थे। इसमें घुड़सवार सेना भी होती थी। यह सदैव बादशाह के साथ ही चलती थी। इस अंग के लिए उत्कृष्ट घोड़ों व सवारों का चयन किया जाता था। इन घोड़ों के लिए अलग से राजकीय अस्तबल होता था जिसका प्रमुख अधिकारी अखत बेग कहलता था। इसकी सहायता के लिए दारोगा की नियुक्ति की जाती थी जो अस्थायी मनसबदार भी होता था। इसके अतिरिक्त मुशरीफ (बसमता), अमीन (Store Keeper), नकीब (Reporter), अखता सीस (घोड़े की साज सज्जा करने वाला), बैन्तर (पशु चिकित्सक), चाबुक सवार (प्रशिक्षक), नाल–बंद (नाल लगाने वाला), जिंदार (काठी बनाने वाला), आदि की भी नियुक्ति की जाती थी।[5]

2. **अहदी :–** मुगल अश्वारोही सेना की सबसे अधिक प्रिय व सम्मान पाने वाली टुकड़ी अहदी सैनिकों की होती थी। इनकी भर्ती सीधे केंद्र के द्वारा की जाती थी और ये सीधे बादशाह के संपर्क में ही रहती थी। अबुल फजल ने लिखा है कि ''अनेक ऐसे वीर तथा योग्य सैनिक थे जिन्हें बादशाह मनसब नहीं देता था बल्कि उन्हें वो दूसरों की अधीनता से मुक्त रखता था। ऐसे लोग बादशाह के निजी सेवक होते थे और अपनी स्वतन्त्रता के कारण अधिक सम्माननीय समझे जाते थे।''[6] जहाँगीर व शाहजहाँ के समय क्रमशः लगभग 5000 और 7000 अहदी सैनिक थे।[7] इनके लिए अलग से दीवान और बख्शी हुआ करता था तथा एक अमीर

इनका प्रमुख होता था। विशेष अवसरों पर अहदी सैनिकों को सेना के साथ अभियानों पर भी भेजा जाता था।

प्रारम्भ में राजकीय सेवा में नियुक्ति के समय अहदी सैनिकों से यह आशा की जाती थी की वे स्वयं अपने घोड़े लाएँगे परंतु बाद में इन्हें राज्य की और से घोड़े दिये जाने लगे। अबुल फजल ने लिखा है " जिनके पास घोड़े नहीं होते थे उन्हे बादशाह के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। बादशाह उन्हें अनेक घोड़े, उपहार और वेतन के अंश के रूप में दिलवा देता था। आधे को अनुदान समझा जाता था और आधा चार किश्तों में काट लिया जाता था।"[8] आरंभ में एक–एक अहदी के पास 8–8 घोड़े रहते थे परंतु अकबर के शासन काल में इनकी संख्या घटा कर 5 कर दी गयी, वही जहाँगीर ने भी कालांतर में इससे घटा कर 4 कर दी थी।[9]

3. **बरवाड़ी सैनिक** :– ऐसे मुस्लिम घुड़सवार जो कुशल घुड़सवार होते थे परंतु वे घोड़ा खरीदने में असमर्थ होते थे। इनको राज्य की तरफ से जमीन अथवा वेतन दिया जाता था ताकि वे घोड़े खरीद सकें।[10]

4. **दाखिली सेना** :– ये सैनिक अर्ध अश्वारोही तथा अर्ध पैदल की श्रेणी में आते थे। इनकी भर्ती भी सीधे राज्य से हुआ करती थी। उनके वेतन का भुगतान खजाने से होता था लेकिन उन्हें मनसबदारों के अधीन रखा जाता था। बादशाह द्वारा आज्ञा दी गयी थी कि सैनिकों की सूची में इन पैदल सैनिकों को नीम–ए–सवारान अर्थात आधा घुड़सवार घोषित किया जाये।इसका अर्थ था कि दो सैनिकों के बीच एक घोड़ा होता था। दाखिली सैनिकों में से एक चौथाई बंदूकची होते थे, तथा शेष धनुषधारी होते थे।[11]

5. **ताबिनान** :– 12 घुडसवारों में सबसे महत्वपूर्ण भाग उन सैनिकों का होता था, जो मनसबदारों द्वारा सेवा में लाये जाते थे तथा जो मनसब के अभिन्न अंग होते थे। इन्हें ताबिनान कहा जाता था। घोड़ों की नस्ल का निर्धारण कर उसी आधार पर उनका वेतन निर्धारित किया जाता था। इन घुडसवारों को यक अस्पा, दो अस्पा, सी अस्पा की श्रेणियों में बाटा गया था जो इस बात पर

निर्भर था कि उसका सवार दर्जा कितना है। औरंगजेब के समय इनका मासिक वेतन 25 रूपया था। दस घुडसवारों का अधिकारी दहबाशी कहलता था। दस घुडसवारों को इस प्रकार संयोजित किया जाता था कि प्रत्येक दशा में घोड़ों की संख्या सवारों की संख्या से अधिक रहे। ये यक अस्पा अर्थात एक घोडा रखने वाले, दो अस्पा अर्थात दो घोड़े रखने वाले, तथा सी अस्पा अर्थात तीन घोड़े रखने वाले होते थे। इनके अतिरिक्त चौथी श्रेणी चहार अस्पा भी थी जो चार घोड़े रखते थे लेकिन बाद में इस श्रेणी को समाप्त ही कर दिया गया था । अकबर के आरंभिक काल में दस सवारों पर 25 घोड़े हुआ करते थे जिनमें 2 चहार अस्पा, 3 सी अस्पा, 3 दो अस्पाव 2 यक अस्पा थे।

इसे निम्न तालिका से समझ सकते हैं–

बादशाह	कुल सवार संख्या	चहार अस्पा	सी अस्पा	दो अस्पा	यक अस्पा	कुल घोड़ों की संख्या
अकबर	10	2(8)	3 (9)	3(6)	2(2)	25
	10	–	3 (9)	4 (8)	3(3)	20
शाहजहाँ	10	–	3(9)	6 (12)	1 (1)	22

वे मनसबदार जो पूरे वर्ष का वेतन लेते थे वही 10 सवारों के लिए 22 घोड़े रखते थे।

मनसबदारों की वेतन तालिका

वेतन (महीनों में)	सवार संख्या	घोड़ों की संख्या
12	10	22
11	10	20
10	10	18
9	10	16
8	10	14.5
7	10	12.5
6	10	10

वे मनसबदार जिन्हें 10 अथवा 10 से कम महीनों का वेतन मिलता था वे सी अस्पा की श्रेणी नहीं रखते थे।

6. **बारगीर** :– ऐसे कर्मचारी जो दूतकार्य या बोझा ढोने के लिए राज्य की तरफ से उपलब्ध कराये गए घोड़ों का प्रयोग करते थे, बारगीर कहलाते थे। राज्य इन्हें वेतन और घोड़े उपलब्ध करवाता था।[13]

7. **रोजीनदार** :– यह एक अस्थाई अश्वारोही सैनिक टुकड़ी होती थी जिसे सैनिक और असैनिक दोनों कार्य करने पड़ते थे।[14]

8. **बैंदहीनदी** :– ये टुकड़ी केवल संकट के समय ही बनाई जाती थी, जिसमें केवल पेशेवर घुड़सवार ही भर्ती किए जाते थे।[15]

9. **एमक** :– एमक शब्द मंगोलों की एक जनजाति के लिए प्रयुक्त होता था जो उत्कृष्ट कोटि के घुड़सवार होते थे। इन्हें मुगल सेना में सम्मानित स्थान प्राप्त था। जहाँगीर ने 7000 रूपये अपने अमीर जमाल बेग को दिये थे ताकि वो ये रकम इनाम के रूप में एमक घुड़सवारों को दे सके।[16]

सेना की दक्षता और कुशलता के लिए यह आवश्यक था कि सेना के पास अच्छी नस्ल के घोड़े हों। अमीर जागीर और वेतन तो प्राप्त कर लेते थे लेकिन सैनिक और घोड़े नहीं रखते थे। निरीक्षण के समय किराए पर घोड़े और अन्य साजो–सामान लाकर निरीक्षण करवा लेते थे। ये भ्रष्टाचार का एक उदाहरण है जिससे सेना को क्षति उठानी पड़ती थी। अतः अकबर ने इसे रोकने के लिए 1573 ईस्वी में शाहबाज खाँ कम्बू के नेतृत्व में दाग और हुलिया रखने की प्रथा पुनः प्रारम्भ की थी।[17]

आरंभ में घोड़ों को दागने के लिए अनेकों चिह्नों का परीक्षण किया गया और अंत में यह निर्णय किया गया कि विभिन्न प्रकार के वर्ग, श्रेणियों, शहजादो, मनसबदारों, विभिन्न सैनिक श्रेणियों के लिए अंकों का प्रयोग किया जाये। इस नीति को लागू किया गया और पहली बार दागने के पश्चात जब कभी घोड़े हाजिरी व निरीक्षण के लिए पुनः लाये जाते थे तब उस वर्ग के लिए निर्धारित अंक से उन्हें पुनः दाग दिया जाता था। इसमें भी अपवाद है। वे मानसबदार जो दूरस्थ प्रदेशों में थे, वे बारह वर्ष

में एक बार ही दाग व निरीक्षण के लिए उपस्थित होते थे लेकिन 6 वर्ष बाद दाग नहीं लगवाने के कारण उनके वेतन में 10 प्रतिशत की कटौती कर दे जाती थी। हालांकि ये वेतन बाद में दे भी दिया जाता था। स्थानीय और दरबारी सेवकों को 18 महीनो में अपने घोड़ों को पुनः प्रस्तुत करना होता था। यदि किसी मनसबदार की पदोन्नति होती थी तो उसके व्यक्तिगत वेतन में तत्काल बढ़ोतरी हो जाती थी लेकिन वेतन तभी दिया जाता था जब वो अपने घोड़ों को नए मंसब के अनुरूप दगवा लेता था।[18]

आईन–ए–अकबरी में घोड़ों की सात नस्लों का वर्णन मिलता है– अरबी, फारसी, मुंजान्ना, तुर्की, याबू, ताजी, और जांगला। एक अन्य नस्ल जिसका वर्णन आईन में नहीं हुआ है परंतु बाद में सेवाओं के लिए प्राथमिकता पर रखे गए थे वह टाटू थे। इनमे से केवल कुछ नस्ल को ही राजकीय सेवा में प्रयुक्त किया जाता था, शेष बोझा ढोने के काम में प्रयुक्त होते थे। ताजी भारतीय नस्ल थी, वही याबू तुर्की नस्ल के स्थानीय घोड़े थे। सर्वोत्तम नस्ल अरबी घोड़ों की थी।[19]

औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो जाता है। इस पतन का एक मुख्य कारण सेना के विभिन्न अंगों में व्याप्त भ्रष्टाचार था। इसके साथ ही मुगलों की पारंपरिक रणनीति, यूरोपियन सेनाओं की आधुनिक सैन्य नीति, आधुनिक हथियार, मनसबदारों द्वारा उत्तम नस्ल के घोड़ों की आपूर्ति नहीं करना या उसमें विलंब करना, शासन द्वारा मानसबदारों और सैनिकों को समय पर वेतन नहीं देना अथवा उसमें येन केन प्रकरेण विलंब करना आदि अन्य कारण थे जिसके चलते मुगल सैनिक व्यवस्था का मुख्य आधार रही अश्वसेना पतन की और अग्रसर हो गयी।[20]

संदर्भ

1. डेविड अल्फ्रेड, भारतीय युद्ध कला–अनुवाद एस.डी.चोपड़ा, पृष्ठ 6
   आर. के. फूल, आर्मीज ऑफ ग्रेट मुगल, पृ. 57–58
2. आर. के. फूल, आर्मीज ऑफ ग्रेट मुगल, पृ. 58
3. वही पृ. 58

4. वही पृ. 58

5. वही पृ. 58

6. आइन–ए–अकबरी भाग 1 पृष्ठ 249–250

7. आर.के. सक्सेना, मुगल शासन प्रणाली पृ. 106

8. वही पृ. 106

9. वही पृ. 107

10. गुरुचरण सिंह संधु, ए मिलिट्री डिस्ट्री ऑफ मेडिवल इंडिया, पृ. 571

11. वही पृ 571

12. वही पृ 572

13. वही पृ 572

14. आर. के. फूल आर्मीज ऑफ द ग्रेट मुगल, पृ. 64

15. वही पृ 64

16. वही पृ 64

17. रावत अनिल कुमार ,मुगल साम्राज्य में मनसबदारी प्रथा, पृ. 3

18. आर.के. सक्सेना, मुगल शासन प्रणाली पृ. 63

19. गुरुचरण सिंह संधु, ए मिलिट्री डिस्ट्री ऑफ मेडिवल इंडिया, पृ. 578

20. वही पृ 600

1857 के रोचक प्रसंग व क्रिस्टोफर हिबर्ट

श्रीमती दीप्ति अग्रवाल*

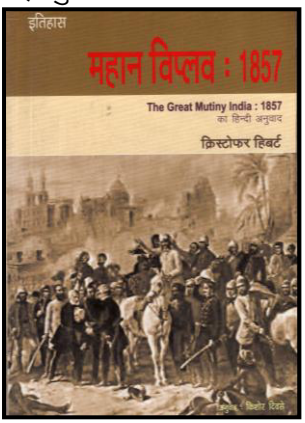

1857 के भारतीय इतिहास पर लिखी गई पुस्तकों में क्रिस्टोफर हिबर्ट्र की पुस्तक Great Muting India : 1857 जो 1978 में अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित हुई, जिसका हिन्दी अनुवाद अभी हाल ही में किशोर दिवसे ने किया है।[1] ऐतिहासिक दृष्टि से लिखी गई इस पुस्तक की भूमिका में लेखक द्वारा प्रकट किए गये आभार से स्पष्ट है कि काफी शोध सामग्री– अभिलेखागारीय, सरकारी रिकॉर्ड, तत्कालीन अंग्रेज सैनिकों व पदाधिकारियों की डायरियाँ, पत्र विवरण, संस्मरण इत्यादि का सहारा लेकर अपनी कलम चलाई है।[2]

अब तक आई हुई पुस्तकों में यह थोड़ा अलग हटकर है। इस पुस्तक में लेखक ने क्रमबद्धता, सटीकता, रोचकता के साथ ऐतिहासिकता का भी ध्यान रखा है।

हिन्दी अनुवादित 472 पृष्ठीय पुस्तक दो खण्डों में विभाजित है, जिसमें कुल बीस अध्याय हैं जहां लेखक ने बडी निष्पक्षता का परिचय दिया है, तत्कालीन तथ्यों को अधिकाधिक मात्रा में जुटाकर, उन्हीं आधार पर तत्कालीन वस्तुस्थिति का विशद एवं व्यापक विवरण प्रस्तुत किया है। लेखक का दृष्टिकोण 1857 में घटित घटनाओं को पाठकों के समक्ष हुबहू प्रस्तुत करना है।

*सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान, आर.डी.राज. कन्या महाविद्यालय, भरतपुर (राज.)

प्रथम अध्याय **'साहब और मैम साहब'** में लेखक ने भारत में ब्रिटिश अधिकारियों, पदाधिकारियों एवं उनकी महिलाओं की भौतिकवादी जीवन शैली को प्रस्तुत किया है कि ये अंग्रेज पदाधिकारी हर प्रकार की साधन सुविधाओं का भारत में इस्तेमाल करते थे। दिल्ली में थामस मेटकॉफ के आलीशान निवास का विवरण दिया है–

''बेशकीमती फर्नीचर, संगमरमर की मूर्तियाँ तेल चित्र एक महाभोज कक्ष.... मालियों की निगरानी में साफ सुथरे लाल... गुलाब की झाड़ियाँ... एक विशाल काश्मीरी शॉलों का पटमण्डप, जिसे खड़ा करने के लिए चाँदी के खम्भों का सहारा लिया गया।''[3]

स्वयं थामस के जीवन चरित्र एवं उसके हुलिये बारे में लिखा है–

''वह एक बेहद सतर्क एवं तुनक मिज़ाज इंसान था सुबह पाँच बजे उठकर नौकरों को आदेश देता हुआ टहलता.... जब ऑफिस जाता तो पीछे–पीछे एक–एक नौकर उनकी हैट, दस्ताने, रूमाल सोने की मूठ लगी छड़ी डिस्पैच बक्सा लिये जाता।''[4]

अंग्रेजों द्वारा बड़ी मात्रा में नौकर रखे जाते थे। भारतीय नौकरों से ली जाने वाली सेवाओं का विवरण लेखक ने दिया है–

''कनिष्ठ अधिकारी क्यूबिट के पास तेरह के नौकरों की कतार– एक कहार, एक ज़मादर, धोबी, पंखा झलने वाला, माली, एक बटलर जो अपने मालिकों के पसंदीदा व्यंजन की व्यवस्था करता था।''[5]

ब्रिटिश पदाधिकारियों द्वारा भारतीय नौकरों से किये गये दुर्व्यवहार को प्रस्तुत किया है –

''देशी नौकरों पर मालिक की त्यौरियाँ चढ़ी रहती थी। नौंवी लेंसर्स के हेनरी ओरी ने लिखा – उसने अनेक बार लापरवाह नौकरों को तमाचा रसीद किया..... मसालों के व्यापारी फ्रेंक ब्राउन ने बताया कि भारतीय नौकरों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार के किस्से अतिरंजित नहीं हैं, वह ऐसे व्यक्ति को भी जानता है जिसने लापरवाह नौकरों को तमाचा मारने के लिए एक अर्दली रखा था।''[6]

1858 ई. में एक आयरिश पत्रकार विलियम हावर्ड रसेल भी उस समय हक्का–बक्का रह गया जब देखा कि दो नौकर रक्तरंजित स्थिति प्लास्टर और पट्टियों से बंधे हुए अपनी चारपाई पर बैठकर सुबक रहे हैं, रसेल को बताया गया कि वे फलां–फलां अफसर के सेवक हैं।[7]

दूसरे अध्याय **'सिपाही और सैनिक'** में लेखक ने सैनिकों, विशेष रूप से अपनी पत्नी से दूर रह रहे सैनिकों की स्थिति को लिया है, सैनिक बाजार का भी विस्तृत उल्लेख किया है। लेखक ने कानपुर के मिलिट्री स्टेशन का विवरण छठवीं नेटिव इंफेंट्री के लेफ्टीनेंट गार्डन द्वारा माता–पिता के लिखे पत्र से लिया है–

''कानपुर सैन्य चौकी के विस्तार का आपको कोई अंदाजा नहीं होगा, जिसे केंटोनमेंट के नाम से भी जाना जाता है। ऑफिसर्स मैस, थियेटर, लाइब्रेरी, बिलियर्ड कक्ष के अलावा असैंम्बली हॉल, ... रैकेट्स कोर्ट, एक फ्रीमेसन लॉज और रेसकोर्स था, शीतगृहों में ठंडे पानी की सुविधा।''[8]

इस प्रकार की सुख–सुविधाओं के साथ–साथ लेखक ने तत्कालीन परिवेश – सैनिक बाजार का विशद उल्लेख किया है।[9]

पुस्तक में सैनिकों की बीमारी के बारे में नवीन जानकारी मिलती है कि ब्रिटिश मिलिटरी अस्पतालों में एक चौथाई मरीज सिफलिस (सुजाक)[10] से पीड़ित थे।[11] इसी अध्याय में लेखक ने डलहौजी की उन नीतियों को उजागर किया जिनसे न केवल उन राजकुमारों में सुरक्षा एवं विद्रोह की भावना मजबूत हुई वरन् ब्रिटिश न्याय व्यवस्था से भी उनका विश्वास उठ गया।[12]

लेखक ने धर्म के संबंध में अपनी कलम चलाई है और लिखा है कि भारतीयों का ईसाईकरण किया जा रहा था। यहाँ तक लिखा है कि जिन पटवारियों को हिन्दी सीखने के लिए मिशन स्कूलों में भेजा जाता था उन्हें प्रशिक्षण पूरा होने पर न्यू टेस्टामेंट की प्रतियाँ उपहार स्वरूप भेंट की जाती थीं।[13]

लेखक ने आगे स्पष्ट किया है कि जबरिया ईसाई धर्मान्तरण की दहशत सेना में उस वक्त और बढ़ गई जब जनरल सर्विस एनलिस्टमेंट पारित किया गया जिसमें समुद्र पार विदेश में सेवाएँ देने की बाध्यता थी।[14]

तीसरे अध्याय **'चपातियां और कमल के फूल'** में लेखक ने डॉ गिबर्ट हैडो का मार्च, 1857 के आखिर में अपनी बहन को लिखे पत्र का उद्धरण देते हुए लिखा है कि–

''समूचे भारत में एक रहस्यमय प्रकरण चल रहा है .....किसी ने मतलब नहीं समझा.....इस प्रकरण का नाम है चपाती आन्दोलन''[15]

उसी माह में मथुरा के दण्डाधिकारी मार्क थार्नहिल ने अपनी टेबल पर एक सुबह चार चपातियाँ मोटे आटे की देखी। तथ्यों के साथ लेखक ने यह लिखा है कि 29 मार्च रविवार को मंगल पाण्डे ने बिगुल वादक को बुलाकर भारतीय सैनिकों की असेम्बली जुटाने हेतु गर्जना की। पुस्तक में मंगल पाण्डे द्वारा लैफ्टीनेंट बाग, मेजर ह्यूसन पर प्रहार का सजीव चित्रण किया है। अफसर कर्नल एस.जी. व्हीलर ने भी मैदान छोड़कर मामले की पूरी जानकारी ब्रिगेडियर चार्ल्स ग्रान्ट को दी।[16] इसी अध्याय में मंगल पाण्डे को फांसी (8 अप्रेल, 1857) की सजा का उल्लेख है।

चौथे अध्याय **'मेरठ में बगावत' में** लेखक ने बताया है कि केवल कारतूसों की वजह से मेरठ के सिपाहियों में विद्रोह की भावना बढ़ने लगी। हिन्दुओं ने गंगाजल व मुसलमानों ने कुरान को शपथ लेकर उन कारतूसों को इस्तेमाल नहीं करने को सहमति दी।[17]

इसी अध्याय में मेरठ डिवीज़न के कमांडर मेज़र जनरल डब्ल्यू.एच. हेविट के संबंध में लिखा है–

''ब्लडी बिल के नाम से कुख्यात सड़सठ वर्षीय हैविट ने आधी शताब्दी से अधिक अवधि तक सेवाएँ दीं। समूचे कार्यालय के दौरान अपने वतन इग्लैण्ड छुट्टियाँ बिताने नहीं गया, बेहद पेटू, थुलथुल, उदार, आलसी, प्रसन्नचित्त तबीयत का इंसान, अपने कनिष्ठ अधिकारी की नजर में प्यारा बूढ़ा।[18]

पाँचवें अध्याय **'विद्रोही और भगोड़े'** में लेखक ने भारतीय क्रांतिकारियों द्वारा ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ हथियार उठाये जाने, दिल्ली पर रातों–रात जो कब्जा किया था, उसका क्रमबद्ध तथ्यात्मक विवरण दिया है। साथ ही क्रांतिकारियों का विद्रोह इतना जबरदस्त था कि ब्रिटिश पदाधिकारियों की हालत काटो तो खून नहीं की हो गई। उनके द्वारा सुरक्षित स्थानों को खोजने की घटना में लेखक ने उनके संस्मरणों, डायरियों तथा पत्रों का उद्धरण दिया है –

'मेटकॉफ को खबरें सोलह आना सच मिलीं। केप्टन डगलस और साइमन फ्रेजर मारा गया, जान रास हचिंसन, कलेक्टर, दिल्ली गजट अखबार के कंपोजीटर अपनी जान गंवा बैठे।[19]

दिल्ली में हुई एक अन्य घटना का विवरण –

''कंगूरों तक पहुँचने से पहले अनेक अफसरों की पीठ में गोली मार दी गई.... कुछ लोग दीवार में बने झरोखे से कूदे .... ऐसी हालत में खाई के रास्ते महिलाओं को ले जाना और ढलान पर चढ़ना असंभव सा लग रहा था। इसके बावजूद नीचे अहाते में गरजती तोप..सांय सांय करती गोलियों ने कोशिश करने पर मजबूर कर दिया।''[20]

जब दिल्ली को आंदोलनकारियों ने घेर लिया तो ब्रिटिश लोगों की बड़ी दुर्दशा हो गई, जिसका एक अन्य विवरण –

''गोरे लोग शहर से भाग चुके थे..... जेम्स मोरली नामक का व्यापारी, जिसका कश्मीरी बाजार वाला परिवार मारा जा चुका था, आंदोलनकारियों से अपनी जान बचाने के लिए अपने पुराने धोबी की पत्नी का पेटीकोट और बुर्का पहनकर, उसी की गाड़ी में रवाना हो गया, दिल्ली से दूर अब हमें कोई नुकसान नहीं पहुँचायेगा।''[21]

लेखक ने फिरंगियों द्वारा आन्दोलनकारियों से बचने के चालाकीपूर्ण तरीकों का भी विवरण दिया है। वागनड्रीबर परिवार भागने के दौरान दिल्ली से पांच मील दूर करनाल के रास्ते ऊँचे घने आम के पेड़ों के बीच अमराई में नवाब जियाउद्दीन के बंगले में छुपे, उसका विवरण दिया है –

''वागनड्रीबर अपनी पत्नी और सौतेली बेटी को घर की छत पर लेकर चले गये। ....भयभीत चौकीदार से खाना बनाने के बर्तन लाने को कहा.... यह भी कहा कि अगर सिपाही आ भी गये तो तुम सिर्फ इतना ही कहना इस घर में कोई फिरंगी नहीं है आप चाहे तो तलाशी ले सकते हैं.... तुम उन्हें चेतावनी भी दे देना कि साहब भरी हुई बन्दूक लेकर छत पर खड़े हैं, अगर तुमने हमें परेशान किया तब सबसे पहले वे तुम्हें गोली से उड़ा देंगे। जैसे ही मैं हाथ का संकेत करूँगा... अगर तुमने मेरी बात नहीं मानी.... तब मुझे ऐसा करने से ज़रा भी झिझक नहीं होगी।''[22]

इसी अध्याय में यह भी स्पष्ट किया है कि फिरंगियों को भारतीय सिपाहियों का इतना डर सताये हुए था कि भागते समय और अपने बचाव के लिए उन्होंने भौतिक सुख सुविधाओं को नहीं देखा, जो फिरंगी पहले नौकरों के भरोसे रहता वहीं अब दर–दर भटक रहा था –

''कर्नल नीवेट ने कहा भी था कि झोंपड़ी से बाहर रात बिताने पर हो सकता है सुबह होने से पहले सबकी हत्या कर दी जाय....। झोंपड़ी का भीतरी वातावरण इतना उबाऊ एवं दम घोंटू था कि उन लोगों ने झोंपड़ी से बाहर ही रात बिताना उचित समझा लेकिन सुबह की रोशनी से पूर्व उन्हें झोंपड़ी में जाना पड़ा।''[23]

छठवें अध्याय **'गदर में शोले भड़क उठे'** में वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारियों की अक्षमता, ब्रिटिश फौज का दिल्ली कूच, पंजाब, दानापुर, जगदीशपुर, उत्तर पश्चिमी प्रान्त, ग्वालियर, आगरा आदि में गदर को क्रमबद्ध रूप से लिया है –

''लेफ्टिनेंट फ्रेडरिक रॉबर्ट्स को इस बात की अत्यधिक आशंका थी कि उनके वरिष्ठ अधिकारियों में साम्राज्य के अस्तित्व को चुनौती देने वाले खतरों से जूझने की क्षमता है या नहीं..... कलकत्ता सरकार पूरी तरह निकम्मी और जड़बुद्धि थी..... राबर्ट्स ने यह भी लिखा 'ओह मेरी प्यारी माँ! तुम्हें इस बात का रत्ती भर विश्वास नहीं होगा कि अंग्रेज कभी इतना अधिक मूढ़मति होने का अपराध भी कर सकते हैं.... इससे अधिक हास्यास्पद स्थिति क्या हो सकती है कि सेना टुकड़ों–टुकड़ों में बंट जाय...

. यहाँ हर एक चीज़ पंगु हो चुकी है.... दरअसल कमाण्डर इन चीफ अत्यन्त ढीला–ढाला काहिल और निर्णय क्षमता विहीन इंसान है।''[24]

जब दिल्ली पर पुनः ब्रिटिश हुकूमत का अधिकार होने लगा, ऐसे में क्रांतिकारियों को मृत्युदण्ड की सजायें दी गईं जो बड़ी मर्मस्पर्शी थीं, जिनका उल्लेख किया गया है–

''मृत्युदण्ड की घोषणा किये जाने के बाद कैदियों, गदर मचाने वालों, ग्रामीणों तथा जेल से फरार आरोपियों को सज़ा दिये जाने से पहले अब निजी सिपाहियों से यातना दी जाती थी। पंजाब के डिप्टी कमिश्नर राबर्ट डनलय ने लिखा है – 'अनेक बार मैंने हर आयु, जाति तथा समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व कर रहे भारतीयों को फांसी के फंदे पर झूलते देखा... वे इस भरोसे के साथ मौत को गले लगाते कि उनकी शहादत से आवाम को आश्चर्य होगा।'[25]

लेखक ने मौत की सजाओं व स्थिति को, जिन्हें तत्कालीन अंग्रेजों, अधिकारियों ने अपनी डायरी, पत्रों आदि में लिखा, बड़ी विस्तृत मात्रा में चयन किया –

''जिस समय कैदियों को तोप के मुंह के सामने खड़ा कर दिया जाता था सिर्फ मजबूत कलेजे वाले लोग ही इस दिल दहलाने वाले क्षणों की करुणा भरी दहशत से अप्रभावित रहते।''[26]

संदेह की स्थिति में भारतीय सैनिक को तुरन्त गोली से उड़ा दिया जाता। ग्वालियर की उस क्रांतिकारी घटना को क्रमबद्ध एवं सटीक प्रस्तुत किया है, जब ग़दरकारी सैनिकों ने 14 जून को ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ हथियार उठा लिया और चौथी पैदल सेना के कमान अधिकारी मेज़र शिरेफ को मौत के घाट उतारा–

''मेज़र शिरेफ की घेराबंदी करने वालों में से एक ने सिपाही से संभवतः इशारा किया... अरे ! देखते नहीं। सामने तुम्हारा बाप खड़ा है। उसे गोली मार दो। सिपाही ने आव देखा न ताव... धांय से आवाज़ गूंजी और मेज़र शिरेफ की सहायता के लिए सैनिक लाइन पहुँचे दो ब्रिटिश सार्जेन्ट भागते समय गोलियों से भून दिये गये।''[27]

पुस्तक के सातवें अध्याय **'एक दण्डाधिकारी राजपूताना में...'** मथुरा के खज़ाने की लूट, ब्रिटिश अधिकारी मार्क थार्नहिल के प्रयासों के बारे में विवरण दिया है कि जब क्रांति की खबर मथुरा पहुँची तो वहाँ भी क्रांतिकारियों ने खज़ाने[28,] पर अधिकार जमाया। जब ब्रिटिश अधिकारी लेफ्टिनेट बर्लटन ने भारतीय अधिकारियों को खज़ाने को आगरा ले जाने का आदेश दिया–

''तब भारतीय अधिकारी अंग्रेज लेफ्टिनेंट से अधिक तेज स्वर में चीखा..... नहीं नहीं..... खज़ाना आगरा नहीं... खज़ाना दिल्ली जायेगा। बर्लटन गुस्से में आपे से बाहर होकर गरजा.... गद्दार.... नमक हराम... उसी समय एक सिपाही ने बर्लटन की पीठ में अपनी बंदूक से गोली दाग दी और गदर आरम्भ हो गया।[29]

पुस्तक के आठवें अध्याय **'आगरा और कलकत्ता'** में आगरा में ग़दर, मथुरा अधिकारी थार्वहिल का आगरा आगमन, अंग्रेजों की आगरा किले में बदहाली, ले. गवर्नर जनरल की अक्षमताएँ, कलकत्ता में गवर्नर जनरल की उलझनों को विभिन्न उद्धरणों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। अध्याय के आरम्भ में आगरा शहर के बारे में लिखा है–

''यमुना तट पर बसा, दिल्ली से 140मी. दक्षिण में अवस्थित सौंदर्यमती साम्राज्ञी नूरजहाँ द्वारा मृत पिता के लिए बनाया गया अविस्मरणीय स्मारक..... अजूबों में ताजमहल... इसका धवल सौंदर्य... किलेबंदी किया हुआ महल....।''[30]

आगरा के ब्रिटिश अधिकारियों का मानना था कि मामला शान्तिपूर्ण एवं नियंत्रण में है तथा लेफ्टिनेंट गवर्नर कोल्विन ने कुछ टेलिग्राम कलकत्ता भेजकर गवर्नर जनरल कार्यालय को भी आश्वस्त किया कि सब कुछ शान्त है।''[31] लेकिन आगरा में ब्रिटिश हुक्मरान उस समय चिन्तातुर हो गये जब शहर में आगजनी की ऐसी घटनाएँ हुईं जिनकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती, 23 मई को 9वीं भारतीय पैदल सेना में गदर की खबर मिलती है। ब्रिटिश और भारतीय ईसाई समुदायों में दहशत छा गई।''[32]

लेखक ने मथुरा मजिस्ट्रेट, जो आगरा आ चुका था के उद्धरण से लिखा है कि 'आगरा में ब्रिटिश लोगों की हालत खराब होने लगी, किले में शरण लेने को मज़बूर होना पड़ा, जहां खाने–पीने आदि सुविधाओं का अभाव होने लगा।'

इसी अध्याय में यह भी विवरण है कि वास्तव में अंग्रेजों के खिलाफ गदर जनमानस तक पहुँच चुका था। अंग्रेज महिलाओं ने लिखा भी था कि उनके नौकर फब्तियाँ कसने लगे कि जल्द ही बरतानवियों को भारत से खदेड़ दिया जायेगा, जैसा कि लेखक ने मिसेज़ स्नीड का उद्धरण दिया–

''मेरे नौकरों में से सबसे अदना–सा नौकर भी ब्रिटिश हुकूमत के समाप्त होने की बातें करता था। यहाँ तक कि नौकरानी मुझे कपड़े पहनाकर तैयार करने के बदले आइने के सामने खड़े होकर अलग–अलग मुद्राओं में खुद को निहारती व कंधे पर शॉल डालकर नाचती.... यह सब बदतमीज़ी मेरे सामने की जाती। दुहराया जाता–देख लेना ! आप लोगों का राज अब खत्म हो जायेगा, अब हमारा ख़ुद का राज बनेगा।''[33]

नौवें अध्याय **'नाना साहेब'** के आरम्भ में कानपुर शहर का तथ्यात्मक विवरण – चार पलटनें–पहली, 53वीं, 56वीं व दूसरी अश्वसेना, कुल 3000 सैनिक, भारतीय यूरोपीय अनुपात 10:1, दिल्ली बनारस के बीच अमूमन 60 हजार की आबादी... गंगा के पश्चिमी तट पर स्थित शहर की घनी आबादी, भीड़ रेलमपेल.... शहर का तुलनात्मक रूप से कोई अतीत नही.... ईस्ट इण्डिया कंपनी के बाद से एक प्रगतिशील व्यापारिक केन्द्र।''[34]

साथ ही इस अध्याय में नाना साहेब द्वारा क्रांतिकारियों का नेतृत्व करने एवं कानपुर में फिरंगियों की बदहाली का चित्रण किया है कि कानपुर में ब्रिटिश जनरल व्हीलर ने गदरकारियों के समक्ष समर्पण कर दिया और नाना साहब ने फिरंगियों की वहाँ से सुरक्षित जाने की शर्त मान ली।[35] कानपुर में पुनः नाना साहब का शासन कायम हुआ तथा 21 तोपों की सलामी भी दी गई।''[36] लेकिन कानपुर में ब्रिटिश अधिकारियों पुरुषों महिलाओं, बच्चो की बड़ी दुर्दशा का जिक्र लेखक ने विशद रूप से किया है।

दसवें अध्याय **'हेनरी हेवलॉक का प्रवेश'** में लेखक ने आरम्भ में हेनरी का चित्रण किया – ''मुश्किल से पांच फीट ऊँचे, लेडी केनिंग की राय में एकदम हास्यास्पद लगते, पुरानी व कठोर कद काठी एकदम तंदुरूस्त थे।'' इलाहाबाद में जेम्स नील द्वारा विद्रोहियों का दमन कर अमन शांति की व्यवस्था कायम की गई। हैवलॉक को कानपुर में शांति एवं ब्रिटिश हुकूमत की सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए भेजा गया।[37]

एक विशेष तथ्य उजागर किया है कि हैवलॉक के वापस जाने के पश्चात् जनरल जेम्स नील ने कानपुर में गदरकारियों की तुरन्त नृशंस हत्या करने का आदेश दिया। भारतीयों को सजा देने की हद के बारे में लिखा है–

''सजा देने का कार्य घृणास्पद बना दिया जाय ताकि देखने वालों की रूह कांप उठे। एक अपराधी के गले में फांसी का फंदा लटकाने से पहले घुटनों के बल झुककर अपनी जीभ से एक वर्ग फुट फर्श चाटकर साफ करने के लिए मजबूर किया जाता था।[38]

डॉ. वाइज़ का उद्धरण दिया कि– ''किसी भी कैदी के प्रति नरमी न बरती जाए। जिनके पास भी शस्त्र है उन्हें मृत्यु दण्ड दिया जाये..... हिन्दुओं से नौकरों की तरह बर्ताव करें।''[39]

ग्यारहवें, बारहवें एवं तेरहवें अध्याय में लेखक ने आरम्भ में अंग्रेजों द्वारा अवध के प्रति अपनाई नीति, जिससे असंतोष पैदा हुआ, 48वीं भारतीय पैदल सेना का गदर, पुलिस गदर, हेनरी लॉरेंस की मृत्यु, हेवलॉक का अभियान विठूर में विद्रोहियों को शिकस्त देना, 25 सितम्बर तक लखनऊ में शान्ति बहाली का विवरण दिया है।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड–अध्याय चौदहवें **'दिल्ली के बादशाह'** में दिल्ली में गदरकारियों की हालत, शहर के हालात, अव्यवस्थाएं, बादशाह की गदरकारियों की पराजय की आशंका, बख्तखान का दिल्ली आगमन और वहां पर व्यवस्थाएं कायम करने संबंधी विवरण दिया है।

आगे के अध्यायों में अंग्रेजों की आपसी असमंजस की, ब्रिगेडियर विल्सन की खिन्नता कि दिल्ली पर काबू पाना आसान नहीं, दिल्ली में

अंग्रेज पदाधिकारियों द्वारा भारतीयों की निर्मम हत्या करना, आदि का उल्लेख किया है जैसा कि थॉमक केडेल ने अपने पिता को लिखा–

''हम लोग उनके जख्मी सिपाहियों को अवसर मिलते ही संगीन घोंपकर मार डालते और वे तलवारों के प्रहार से हमारे सिपाहियों के टुकड़े करने में जरा भी वक्त नहीं गंवाते हैं।''[40]

17वें अध्याय **दिल्ली शहर पर कब्जा** में दिल्ली में ब्रिटिश सेना का आगमन, बादशाह को हडसन द्वारा पकड़ लेने (21 सितम्बर) की घटना, राजकुमारी की हत्या, गदर के सिपाहियों को मृत्यु दण्ड देने का विवरण दिया है।[41]

18वें अध्याय **'झुलसती हुई भूमि'** में लखनऊ में भारतीयों द्वारा अधिकार करना, लूटपाट करना, अंग्रेजों को भयभीत करने वाली घटनाएँ, हेवलॉक व आउटरम का घेराबंदी में फंसे रहना, बाद में कैम्पबेल की सेना पहुँचने से राहत मिल जाना आदि का विवरण है।[42]

19वें अध्याय **'लखनऊ में तबाही'** में ब्रिटिश पदाधिकारियों, महिलाओं, बच्चों की बदहाली, हेवलॉक की मृत्यु, बाद में कानपुर में अंग्रेजों का अधिकार, निर्मम हत्याओं का विवरण मिलता है।[43]

अंतिम अध्याय में भारतीय गदर के सिपाहियों का अंत होने की घटना का बड़ा विस्तृत विवरण दिया है।

इस प्रकार 1857 पर लिखी गई क्रिस्टोफर हिबर्ट की पुस्तक तत्कालीन घटनाओं को शोध सामग्री के आधार पर, सटीक उद्धरण देकर लिखित पुस्तक है। उन्होंने वही लिखने की कोशिश की है जो उन डायरियों, पत्रों, संस्मरण में है। जहाँ अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किये गये अत्याचारों को लिखा है, तो वहीं क्रांतिकारियों द्वारा फिरंगियों की की गई हालतों को लिखा है। पुस्तक के अध्ययन से यही स्पष्ट होता है कि क्रांति इतनी जबरदस्त थी, कि तत्काल अंग्रेज संभल नहीं सके – कानपुर, मेरठ, लखनऊ, इलाहाबाद, जगदीशपुर, दिल्ली, मेरठ, आगरा, ग्वालियर। यह तभी संभव हुआ जब जन–मानस ने क्रांतिकारियों को सहयोग दिया। लेखक ने यहाँ तक लिखा है कि अंग्रेजों व मैम साहबों के नौकर एवं

आयाएं भी आज़ादी का जश्न मनाने लगे और कहने लगे कि बरतानवी हुकूमत अब शीघ्र ही जाने वाली है।

पुस्तक तथ्यों से भरपूर है, घटनाओं का विवरण ऐतिहासिक कालक्रम से दिया है। दूसरे 'कौन क्या कहता है' की बजाय, तत्कालीन तथ्य– डायरी, संस्मरण, पत्र, रिकॉर्ड क्या कहते हैं' पर यह पुस्तक लिखी गई है जिसमें लेखक ने निष्पक्षता का ध्यान रखा है।

संदर्भ

1. संवाद प्रकाशन, आई 499 शास्त्रीनगर, मेरठ
2. लेखक की अपनी बात, पृ. 9–12.
3. वही, पृ. 23–24
4. वही, पृ. 24
5. वही, पृ. 31.
6. वही, पृ. 32.
7. वही, पृ. 32.
8. वही, पृ. 43–44.
9. वही, पृ. 44.
10. वही, यह यौन रोग था जो संक्रमण से फैलता, पृ. 45.
11. वही, पृ. 45–46.
12. वही, पृ. 54.
13. वही, पृ. 57.
14. वही, पृ. 58.
15. वही, पृ. 64.
16. वही, पृ. 76.
17. वही, पृ. 84.
18. वही, पृ. 90.
19. वही, पृ. 105.
20. वही, पृ. 113.
21. वही, पृ. 114.
22. वही, पृ. 121–122.
23. वही, पृ. 131–32.
24. वही, पृ. 136.

25. वही, पृ. 139.
26. वही, पृ. 142.
27. वही, पृ. 159.
28. चाँदी के पांच लाख सिक्के एवं लगभग दस हजार पौण्ड कीमत के तांबे के सिक्के मौजूद
29. वही, पृ. 165.
30. वही, पृ. 174–175.
31. वही, पृ. 176.
32. वही, पृ. 176.
33. वही, पृ. 189.
34. वही, पृ. 194–195.
35. वही, पृ. 217.
36. वही, पृ. 225–226.
37. वही, पृ. 234.
38. वही, पृ. 242.
39. वही, पृ. 247.
40. वही, पृ. 348.
41. वही, पृ. 370–378.
42. वही, पृ. 390–400.
43. वही, 413–434.

मेवाड़ क्षेत्र का अद्भुत ऐतिहासिक शिव मंदिर : अधरशिला महादेव

प्रभु बड़ार*

भक्ति और शक्ति की धारा मेवाड़ में प्राचीन काल से धर्म के प्रति अत्यधिक रुझान रहा है। यहाँ शैव धर्म, शाक्त धर्म, वैष्णव धर्म और अन्य कई धार्मिक उदाहरण देखने को मिलते हैं, परन्तु मेवाड़ के महाराणाओं ने शिव को मेवाड़ का आधिपति मानते हुए शासन कार्य संचालित किया। जिसके कारण मेवाड़ के ग्रामीण आंचल तक शैव् धर्म का बोलबाला रहा। वर्तमान में वस्त्र नगरी के नाम से प्रसिद्ध भीलवाड़ा जिला व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण यहाँ पर अनेक प्राचीन, आधुनिक स्थापत्य कला के नमूने देखने को मिलते हैं। इसमें एक 600 वर्ष पुराणा डेलाना का शिव मंदिर है। मेवाड़ रियासत के कोशिथल ठिकाने का राजस्व ग्राम डेलाणा, जो वर्तमान में भीलवाड़ा जिले की सहाड़ा तहसील के गंगापुर शहर से पश्चिम में 4 किमी. दूर पर स्थित है। ऐसा ही अद्भुत स्थापत्य शिल्प अधरशिला महादेव के रूप में है। वैज्ञानिक, आध्यात्मिक और प्राकृतिक वैभव को समेटे हुए है।

स्थिति

भीलवाड़ा जिले के प्रसिद्ध मन्दिरों में से एक अधरशिला महादेव भीलवाड़ा जिला मुख्यालय से 10 किमी. दूर उपनगर पुर में अवस्थित है। अरावली पर्वतमाला की गोद में निर्मित यह मंदिर भीलवाड़ा जिले में अपनी अलग पहचान रखता है। भीलवाड़ा से पुर तक समतल मार्ग के बाद एकाएक बड़ी–बड़ी चट्टानों से निर्मित श्रृंखलाओं की गोद में बना हुआ अधरशिला महादेव मंदिर अत्यन्त अद्भुत छटा बिखेरे हुए है। भौगोलिक दृष्टि से मंदिर 25°29′43′′ उत्तरी अक्षांश व 74°52′59′′ पूर्वी देशांतर पर स्थित है। यह मंदिर उपनगर पुर से 1 कि.मी. दूर और भीलवाड़ा–उदयपुर हाइवे से 2 किलोमीटर अन्दर है।[1]

शोध–छात्र, इतिहास विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

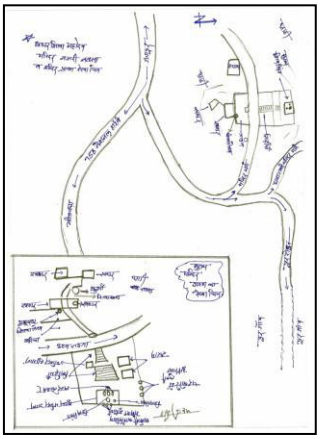

अधरशिला महादेव मन्दिर का नजरी नक्शा एवं रेखाचित्र

मंदिर का इतिहास

यह मंदिर स्थानीय प्राचीन शिव मंदिरों में से एक है। यहाँ का शिवलिंग साक्षात् स्वयम्भू है अर्थात् स्वयं भूमि से प्रकट हुआ है। शिवलिंग के सामने नन्दी परिवार है। जनश्रुतियों के आधार पर कहा जाता है कि ये नन्दी परिवार महाभारत कालीन है। पुरातात्विक विभाग द्वारा भी इसकी उत्पति महाभारत कालीन होने की पुष्टि की गई है। कुछ जानकार लोगों द्वारा मंदिर की मूर्ति को गुप्त/मौर्यकालीन बताया गया है। शिवलिंग के साथ शिव परिवार की मूर्तियाँ भी हैं। माँ पार्वती के दायीं तरफ गणेश और बायीं तरफ कार्तिकेय विराजित हैं।[2]

मंदिर का गर्भगृह

नामकरण

अधर. शिला = उठी हुई शिला। अधर मेवाड़ी शब्द है। जिसका अर्थ जमीन से कुछ ऊपर उठा हुआ होता है। माऊंट आबू में भी अबूदी माता का मंदिर है जिसे स्थानीय लोग अधर देवो कहते हैं। उक्त प्रतिमा भी जमीन से कुछ ऊपर उठी बताते हैं। इस शिव मंदिर का नाम अधरशिला महादेव पड़ने के पीछे वैज्ञानिक और आध्यात्मिक कारण है। मंदिर अरावली की पहाड़ी पर बना हुआ है। चारों तरफ बड़ी बड़ी चट्टानों के बीच मंदिर बना हुआ है। मंदिर के ऊपर एक बड़ी चट्टान स्थित है, जो वर्तमान समय में दो तरफ से नाममात्र स्थान पर टिकी हुई है। परन्तु लोगों से जानकारी लेने पर ज्ञात हुआ कि वर्तमान में जो चट्टान का हिस्सा टिका हुआ दिखाई देता है वो प्राकृतिक रूप से जमी हुई धूल मिट्टी है। स्थानीय लोगों के अनुसार एक समय इस चट्टान में से पूरा धागा निकल जाता था, जो इसके किसी भी तरह जमीन पर टिके नहीं होने का प्रमाण है। अभी मंदिर विकास के समय यहाँ लोहे की रेलिंग लगायी गयी है, उस पर कुछ हिस्सा टिका हुआ है। मुख्य चट्टान के ऊपर एक और भारी चट्टान भी पड़ी हुई है जो भूस्खलन या अन्य प्राकृतिक कारण से गिरी हुई प्रतीत होती है। मंदिर की चट्टान अभ्रक मिश्रित है जो हल्की धूप में चमकती हुई प्रतीत होती है।

खण्डहर

मंदिर से जुड़े हुए ऐतिहासिक तथ्य

- मंदिर का सम्बन्ध 1857 ई. की ऐतिहासिक स्वतंत्रता क्रांति से रहा है। विक्रम संवत् 1915 में वीर तात्या टोपे ने अपनी सेना और साथियों के साथ अधरशिला महादेव में ही पड़ाव डाला। इसमें मंदिर के तत्कालीन पुजारी आयसनाथ द्वारा तात्या टोपे की सहायता की गई।[3]

- तात्या टोपे मध्यरात्रि में यहाँ के स्वयम्भू शिवलिंग की पूजा अर्चना किया करते थे। उनका निवास स्थान मंदिर के पीछे पहाड़ी पर स्थित एक चट्टान से निर्मित गुफा में था।[4]

- कुछ समय यहाँ रुकने के बाद तात्या टोपे यहाँ से सलूम्बर की ओर प्रस्थान कर गए थे।[5]

- मंदिर के पुजारी शम्भू नाथ द्वारा बताया गया यहाँ पर कुछ सालों पहले तक शेर, पैंथर जैसे जानवर पाए जाते थे। मंदिर की पश्चिम दिशा की गुफा में दिन में ही शेर–चीते निकल आते थे। जानकार बताते हैं कि यहाँ से शेर पकड़ कर जन्तुआलय भेजे गए।

- पुराने समय में भी यहाँ शेर पकड़ कर मेवाड़ महाराणा को उपहार के तौर पर दिये गए थे।

खण्डहर

- मंदिर की मुख्य चट्टान पर एक भगवान शिव का एक चित्र बना हुआ है, जो पुजारी द्वारा लगभग 60 से 70 वर्ष पुराना बताया गया है। आश्चर्य यह है कि इस चित्र का रंग कच्चा है और अभी तक यह रंगीन और मूल रूप में दिखाई देता है।[8]

- मंदिर की चट्टान के नीचे पाँच हाथ के निशान दिखाई देते हैं, जिन्हें देखकर लगता है कि बलशाली व्यक्ति ने चट्टान को उठाने की कोशिश की हुई है।[9]

- मुगल शासन काल में भी इस मंदिर को नष्ट करने, मूर्तियों को खंडित करने के कई विफल प्रयास हुए हैं। एक बार मुगल शासक औरंगजेब के सिपाहियों द्वारा इस मंदिर को तोड़ने का प्रयास किया गया, पर यहाँ बरगद पर बैठी मधुमक्खियों द्वारा हमले करने पर मुगल सेना को उल्टे पाँव भागना पड़ा।[10]

मंदिर के पुजारी/मठाधीश

मंदिर में पूजा अर्चना वर्तमान समय में नाथ सम्प्रदाय द्वारा की जा रही है। मंदिर के वर्तमान पुजारी शम्भू नाथ योगी हैं। मंदिर के सामने ही बने पार्क के पीछे इनका मठ स्थित है जिसके अब अवशेष मात्र बचे हुए हैं। मेवाड़ महाराणा द्वारा यहाँ के पुजारियों को 486 बीघा जमीन दान की गई थी। इनसे पहले गोकुल नाथ, बालक नाथ, मोती नाथ, भवानी नाथ आदि मठाधीश रह चुके हैं, जो अपने तपोबल से आम जन के कल्याणार्थ कार्य करते रहे हैं।

शिवालय का आन्तरिक व बाह्य दृश्य

नजदीकी स्थल

मोरकुण्ड– मंदिर के पीछे की पहाड़ी पर ही दुर्गम चढ़ाई पर मोर कुण्ड बना हुआ है। मोर जैसी आकृति होने के कारण श्श्मोरकुण्ड'' नाम से

जाना जाता है। इस कुण्ड में वर्ष पर्यन्त जल भरा हुआ रहता है जिसमें जंगली पशु–पक्षी पानी पीते हैं।

दीवार में स्थित विष्णु ब्रह्मा की मूर्तियाँ

उड़न छतरी

उड़न छतरी अधरशिला महादेव के नजदीक ही स्थित है। यहाँ एक छोटी सी चट्टान के ऊपर एक बड़ी चट्टान का विश्राम करने का भौगोलिक व आध्यात्मिक दृश्य पर्यटकों को सहज आकर्षित करता है। इसके अतिरिक्त यहाँ घाटा रानी, पातोला महादेव आदि प्रसिद्ध स्थल हैं।

मेले

स्थानीय मंदिर के पास परिसर में वर्ष में 2 बार मेलों का आयोजन किया जाता है। पहला मेला महाशिवरात्रि को भरता है और दूसरा मेला हरियाली अमावस्या को भरता है। मेले में आसपास के गाँवों के अलावा दूर–दराज से भी ग्रामीण आते हैं। सावन महीने में मंदिर पर श्रद्धालुओं का तांता रहता है। शिव अभिषेक का आयोजन किया जाता है।

वनस्पति

मंदिर के आगे–पीछे प्राकृतिक छटा बिखेरे हुए अरावली पर्वत माला है, जिसमें टिमरू, करंज आदि पेड़–पौधे हैं। इस घाटी को ''कदम्ब घाटी'' के नाम से भी जाना जाता हैं, क्योंकि वर्षा ऋतु में कदम्ब के वृक्षों की खुशबू से पूरा क्षेत्र महक जाता है। यह स्थानीय वातावरण को अत्यन्त ही रमणीय और मनोरम हरीतिमा से आच्छादित कर देता है।

वर्तमान समय में विकास

जानकार लोगों ने बताया कि ई. 1993 तक मंदिर का रास्ता अत्यन्त ही दुर्गम था, परन्तु नगर विकास प्रन्यास और नगर परिषद भीलवाड़ा द्वारा यहाँ सड़क, धर्मशाला और बगीचों का निर्माण किया गया है। वर्तमान समय में यह पिकनिक और शादियों हेतु प्री वेडिंग शूट के लिए प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त मंदिर की पहाड़ी के चारों तरफ पक्की सड़क बनी हुई है।

निश्चित रूप से प्राकृतिक, आध्यात्मिक और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण यह मंदिर मेवाड़ क्षेत्र की अमूल्य धरोहर है। समुचित आधारिक विकास, प्रबन्धन एवं सकारात्मक नीति को अपनाकर पर्यटन की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थल के रूप में अधरशिला महादेव के विकास की अपार संभावनाएँ हैं।

संदर्भ

1. गूगल मेप (GPS)
2. वही
3. व्यक्तिगत साक्षात्कार, हेमन्त शर्मा, अध्यापक, उम्र 35 वर्ष, निवासी खेराबाद, अधरशिला महादेव मंदिर, मंदिर परिसर, पुर भीलवाड़ा, दिनांक 27 मार्च, 2018
4. व्यक्तिगत साक्षात्कार, शम्भूनाथ, मुख्य पुजारी, उम्र 68 वर्ष, अधरशिला महादेव मंदिर, मंदिर परिसर, पुर भीलवाड़ा, दिनांक 27 मार्च, 2018
5. व्यक्तिगत साक्षात्कार, शारदा तेली, अध्यापिका, पूर निवासी, उम्र 65 वर्ष, अधरशिला महादेव मंदिर, मंदिर परिसर, पुर भीलवाड़ा, दिनांक 27 मार्च, 2018
6. व्यक्तिगत साक्षात्कार, हेमन्त शर्मा, अध्यापक, उम्र 35 वर्ष, निवासी खेराबाद, अधरशिला महादेव मंदिर, मंदिर परिसर, पुर भीलवाड़ा, दिनांक 27 मार्च, 2018

7. व्यक्तिगत साक्षात्कार, शम्भूनाथ, मुख्य पुजारी, उम्र 68 वर्ष, अधरशिला महादेव मंदिर, मंदिर परिसर, पुर भीलवाड़ा, दिनांक 27 मार्च, 2018

8. व्यक्तिगत साक्षात्कार, नारायण सिंह राजपूत, वन अधिकारी, सेवानिवृत्त, उम्र 78 वर्ष, अधरशिला महादेव मंदिर, मंदिर परिसर, पुर भीलवाड़ा, दिनांक 27 मार्च, 2018

9. व्यक्तिगत साक्षात्कार, जोरावर सिंह राजपूत, ओझाघर निवासी, उम्र 85 वर्ष, अधरशिला महादेव मंदिर, मंदिर परिसर, पुर भीलवाड़ा, दिनांक 27 मार्च, 2018

10. व्यक्तिगत साक्षात्कार, मथुरा दास वैष्णव, स्थानीय निवासी, उम्र 32 वर्ष, अधरशिला महादेव मंदिर, मंदिर परिसर, पुर भीलवाड़ा, दिनांक 27 मार्च, 2018

11. व्यक्तिगत साक्षात्कार, शम्भूनाथ, मुख्य पुजारी, उम्र 68 वर्ष, अधरशिला महादेव मंदिर, मंदिर परिसर, पुर भीलवाड़ा, दिनांक 27 मार्च, 2018

12. व्यक्तिगत साक्षात्कार, शम्भूनाथ, मुख्य पुजारी, उम्र 68 वर्ष, अधरशिला महादेव मंदिर, मंदिर परिसर, पुर भीलवाड़ा, दिनांक 27 मार्च, 2018

THE REIGN OF SHER SHAH SURI : A HIGH WATER MARK OF ADMINISTRATION

Dr. Rajeev Ranjan*

The Afghan origin king Sher Shah Suri, is not only considered as the brave warrior and successful conqueror but an architect of brilliant administrative system too. His brief reign of five years (1540-45 A.D.) is marked by the introduction of wise and salutary change in every conceivable branch of administration.

The credit of assigning Sher Shah for rightfully putting him as an efficient administrator in the history of India goes to the researches done in 20th century by Dr. K. R. Quanungo[1]. And, now almost all modern historians recognise him as one of the most able administrator of India.

On his accession to the throne of Sultan, he found to be in tottering condition without cohesion, unity or moral basis. As a sultan, he repaired, improved, organised and perfected every single department of the state with admirable skill and expedition [2]. Peace, security and prosperity in the land as well as confidence in the intentions and ability of the king followed his footsteps. He bequeathed to his successors administrative structure and traditions of a just and tolerant policy as the essential conditions of a durable and good government[3]. For this he worked hard for 16 hours and looked after the working of every department of the state[4].

Sher Shah government is marked by highly centralised system, crowned by bureaucracy, with real power concentrated in the hands of the king but, he was not an unbridled autocrat, regardless of the rights and interest of the people. Though, Sher Shah was a despot but it was in the spirit of enlightened despotism, he attempted to found an empire broadly based on people's welfare.

*Associate Prof. (History), Govt. P.G. College, Neem Ka Thana (Raj.)

He made a rhythmic balance between the safeguarding of the state and welfare of the subjects. Many old institutions of predecessors' administration continued like central administrative set up. Several were revived and some new institutions and departments emerged during his rule.

Sher Shah as a king, was assisted by a group of ministers who were administrative heads of their assigned departments. But, the ministers during his rule, enjoyed less power in comparison to those of Mughals[5].

However, among his ministers the four most prominent were - ***Wazir*** who looked after the financial affairs; ***Ariz-i-Mumalik*** was in charge of military affairs; ***Diwan- i-Rasalat*** was minister for foreign affairs department, ***Dabir - i - khas*** used to look after international correspondence of the state. Besides these, there were two other prominent officers. One of them was chief ***Quazi*** (head of justice department) *and* ***Barid-i- mumalik***[6] (head of the intelligence department).

Very little is known about the provincial administration of Sher Shah and whatever is known, historians differ in their opinion about that. However, except Qunango, all historians agree that the empire was divided in to provinces and these were called either *Iqtas* or *Subahs*[7]. The following twelve *iqtas* or *subahs* (provinces) are mentioned by contemporary writers[8] – Bengal, Bihar, Avadh, Rohilkhand, Agara, Delhi, Lahore. Multan, Sindh, Jodhpur, Chittor and Malwa.

However this much is clear that the head of the *iqta* or province was called as *Hakim, Amin, Fujdar* or *Subedar*[9]. All these ranks were equivalent to governor and powers were anything but uniform. Sher Shah kept a strict vigilance over all his governors and never put up with disorder, breach of peace or disregard of direction from the centre.

He introduced a diarchal system of government[10] as preventive measure against rebellion. Earlier in provinces control over army and financial control were vested in same person. But, Sher Shah made bifurcation in the power and appointed two officers of equal rank. One,

in charge of finance and other in charge of executive and military functions. Both were considered as check and balance, and both remained loyal to Sultan.

The study shows that in Bengal, there was no military officer as governor of the province. Instead, it was ruled by a civilian officer called *Amir-i- Bangala* with a assistance of small military force [11].

Every *iqta* or *subah* was divided in to forty seven units called *Sarkar* or districts. There happened to be two prominent officials[12] in every *Sarkars.* The first one, *Shiqdar-i-Shiqdaran* was a military officer and the second one designated as *Munsif-i-munsifan* was a judicial officer. *Faujdar* was a semi-military police officer charged with the maintenance of law and order.[13]

Shiqdar-i-Shiqdaran[14] as the head of the *sarkar* supervised the work of subordinate officer *shiqdar,* maintained law and order within the *sarkar*, secured the compliance to all central or provincial orders and regulations; and exercised original and appellate jurisdiction in criminal cases within his charges.

Munsif-i-munsifan [15] equal in rank but inferior in status was head of the pargana civil court. He supervised the work of *amins* of the parganas and heard appeals against their judgment.

Pargana

The *Sarkar* in its turn was divided in to smaller units called *Parganas.* In every *pargana* there happened to be three important officials called a *Shiqdar*, an *Amin* and two *karkuns* or clerks.

Shiqdar was responsible for maintaining peace and rounding up unsocial elements. ***Amin*** supervised the land revenue administration and collection of government dues. He also acted as ***Munsif*** or the judicial officer. Thus, tried civil and revenue cases. The post of the ***Amin***[16] was of great importance and Sher Shah kept him virtually at par with *Siqdar.* ***Fotahdar*** [17] was treasurer. All collection were deposited with him. All income and expenditure of pagana were maintained by him. He was below to the rank of *shiqdar* and *amin* in order of precedence. ***Karkuns***

[18] which were two in numbers, were basically clerks. One of these clerk maintained all records in Persian while the another maintained this record in Hindi.

To check the undue influence of these officers in their respective jurisdictions, the king devised the plan of transferring them after every two to three years, which, however could not be long enduring, owing to the brief span of his rule. [19]

Village Administration

The *pargana* comprised a number of villages. Thus, the smallest administrative unit of the state was village. The administration of village was left in the hands of hereditary owners of the village like ***Chaudhary***, ***Muqaddam***, ***Quanungo***, *and* ***Patawari*** and above all, the traditional *village panchayat.* [20]

Sher Shah initiated the policy of making local people or natives, responsible for maintaining peace and security within their areas. The village head-man was charged with the responsibility of maintaining law and order in his jurisdiction. He was also liable for the arrangements for ward and watch duty, during the night to prevent theft, robbery dacoity murder etc. In case, any such incident took place then they had to produce the culprits or under go punishment themselves. According to Abbas Khan Sharvani, Sher Shah led to such a perfect peace and security that even if an old woman went from one end of the empire to the other with large ingots of gold, none would interfere with her. Even if a merchant died on the way, the local people immediately reported the matter to the government and kept watch over his belongings till the instructions for disposal was received. Albeit it appears exaggeration, but it seems that life and property of the people have become more secure than ever before.[21] The most makeable thing was that - every branch of the administration was subject to Sher Shah's personal supervision.

ARMY

Sher Shah felt the need of maintaining a strong and efficient army. The services of the body of armed retainers were not considered sufficient. Thus he tried to re-organise, increase and improve

the imperial army. For doing all these for imperial defence primarily he borrowed the principle of Alauddin Khilaji's military system. He gave emphasis on maintaining a regular army. Further, in his army, the soldiers were made bound to Sultan, through their immediate commanding officers.

Army was principally organised under the heads of cavalry, infantry, Elephantry, Gunners and Matchlock men. According to Abbas Khan Shervani cavalry was regarded as the main stay of the force. He had under his direct command a large force consisting of 1,50,000 cavalry, 25,000 infantry, 300 elephants and artillery. Garrisons were maintained at different strategic points of the kingdom. Each unit which was called *fauj* and it was under the command of a *faujdar*. [22]

The infantry was mainly composed of Hindus and the slaves called *payaks* [23] or *paiks* and it included some of the finest archers (*dhanuk*) [24] and matchlockmen. Soldiers were kept in the military cantonments and garrisons which were spread all over the territories of the Afghan empire under Shershah. He maintained a central force at the capital as his personal followers. This consisted of the finest soldiers in the realm. The rest were distributed all over the empire in garrison of the forts and contingents present at different strategic points of the kingdom, of officers posted in the provinces. Apart from all these, expert wrestlers and fencers were employed as personal body guards of Sultan, in garrison and auxiliaries.[25]

He appointed a ***Bakshi –i- lashkar*** for supervision and control over army. In function he was similar to ***Ariz-i-mumalik*** . He enforced observance of military regulations, and when payment in cash was started he supervised disbursement of salaries also. His subordinate was ***Bakshi***. [26]

Sher Shah enforced strict discipline in the army and took ample precautions to prevent corruption among soldiers. His first step in the assumption of power was to remove a basic weakness by introducing a number of reforms in the service regulations as well as in the method of recruitment of both soldiers and horses. They were subject to a test before being employed. Besides duly supervising the recruitment of

soldiers, took the descriptive rolls of soldiers (***huliya***) and he personally fixed their salaries,. At regular intervals, muster roll of the army personnel's was held and systematic inspections were carried out. Every horse was to be branded (***dagh***) and its descriptive roll was prepared to prevent fraudulent practices by the soldier.[27]

Provincial governors, nobles and subordinate rulers were also allowed to maintain their separate army which were called in, for the assistance of the Sultan whenever needed. [28]

Secret service was the essential element of Sher Shah's defence system. His spies entered in to enemy's territory and brought back useful military information. Furthermore, he had the opinion that an improved espionage system can curb crime, this is why Sher Shah kept and maintained highly efficient espionage system. Spies were appointed at all important places and with efficient officers. The officials of this class, mixing with the people by disguising their identity collected valuable information about the locality and the associated officers.[29] The spies were expected to inform the Sultan all important news immediately. The defaulters in the duty were severely punished. This department was put under the charge an officer called ***Daroga- e- Dak- Chauki***. At every *sarai*, two horses were kept so that the news carriers could get fast running horses at short intervals to maintain the speed.

Law and Order

Sher Shah had restored peace in the country. The law and order to establish peace in the state was well maintained by means of police which worked on the principle of local responsibility.[30] The ***Kotwal*** was head of the police and criminal magistrate.[31] By the early-years experience of administration at the grass-roots level, Sher Shah realized that crimes were mainly committed with the convenience of the village chiefs. So, he put them liable to check it up. If a village chief was unable to produce the culprit which committed crime within the boundary of his respective village, whether it was thief, robber or murderer, they had to undergo punishments themselves.[32]

Judiciary

Sher Shah had a strong sense of justice and its administration under him was even-handed and no distinction was made between the high and the low born. In this context, even the close relatives of the king were not spared from its decrees. In the administrative units *parganas*, civil suits were disposed by the ***Amin,*** and other cases, mostly criminals by the ***Quazi*** and the ***Mir- i- Adla*** . Several *parganas* had over them ***Musif - i - Munsifan*** to try civil cases. At the capital city there was the *Chief Quazi,* the Imperial Sadra. And, above all, the Emperor (sultan) was the highest authority in judicial like as in other matters.[33] Due to his impartiality in justice and policy of justice for all he was called as ' ***Sultan-ul- Adla***". [34]

Economy

The important sources of the income of the state, during the reign of Sher Shah were the revenue – trade tax, mint, salt tax, *khams*, *jizya* and presents offered by subordinate rulers and governors. There were local tax also which were called – *abwabs.*[35]

Sher Shah reign is also known for his economic reforms. However, the land-revenue, was the primary source of income of the state and its administration by the Sher Shah has been regarded as one of the best during the medieval period. His land revenue reforms, based on wise and humane principles, is of unique importance in the administrative history of India; for they served as the model for future agrarian system. This system was in fact *Ryotwari* in which primarily a careful and powerful survey, as well as meticulous study of socio-economic condition of the cultivators was made. Further on the basis of this survey, the land revenue was directly settled with the cultivators.

The claim that Sher Shah cared for the cultivator and established direct contact is based on the assumption that he had undertaken such a step when as Farid he was looking his father's *jagir*. It is said that Farid meant to make settlement direct with *raiyat* or peasants and not through ***muquaddams***.[36]

On the basis of agricultural production, the land was divided in to three categories i.e. good, middle and bad. The average of the production of all these three categories of cultivation-land was assessed. Finally, the state demand for revenue was fixed at one-third of gross yield.[37] The exception was the province of Multan where due to under developed, only one-fourth of the yield was levied.[38] Similarly, this could not have been extended to Malwa and Rajputana which had not been thoroughly subjugated till late in his short reign. But in other areas it was measured to decide the standard unit.[39]

Sher Shah was the first medieval ruler who ordered for preparation of two documents associated with land revenue, ***patta*** (title deeds) which were given to peasants and ***qubuliayt*** (deeds of agreement) or acceptance of tax, which were asked to sign by the peasants in front of village head . Further, he instructed his revenue officials to show leniency at the time of assessment but be strict at the time of collection of revenues. Sher Shah imposed the taxes ***Zaribana*** (surveyor's fee for land-measurement) and ***Mahasilana*** (tax collector's fee) which were contingency or insurance tax on cultivators.[40] By these land and revenue reforms not only the cultivators got relief but the state too was in its economic gain. Of course, the nobles and *zamindars* were deprived of their economy and influence in society. There were two other systems of assessment of land revenue was based on the measurement of land : ***gallabakshi*** or ***batai*** which was single division of crop; and ***Kankut*** meant assessment by a general estimate made by the revenue officer of the government assisted by the headman of the village in the presence of the cultivator.[41]

His military campaign was marked by a rare combination of caution and enterprise. Soldiers were instructed not to cause any damage to the crops during the course of their movement.[42] Some of the soldiers of cavalry were spread and made vigil for checking that marching troops which may not damage to standing crops.[43]

He established a famine relief fund in which every peasant had to contribute grain at the rate of 200 *Bahloli tanka* in weight per *bigha*. The grain collected and stored in local government stores was distributed

among the people by means of cheap grain shops when famine ever famine condition prevailed.[44] It appears that he made provision for grant of rehabilitation loans to peasant at the times of famines.

Sher Shah reign is also known for his economic reforms. He abolished all duties which were charged on merchandise at different places within the empire. He ordered for collection trade tax only at two places, one, when and where the goods entered the territory of his empire or on the place of its manufacture and, other, where it was sold.[45] This encouraged trade and commerce. Thus, the collection of trade-tax was made only at two places . In the east, goods imported or exported from Bengal paid custom duty on the border of Bihar and Bengal at Sikarigali and goods coming from west and Central Asia paid at the Indus border. No one was allowed to levy custom on roads or even anywhere else.

It may be justly presumed that Sher Shah exercised strict economy in the household expenditure and privy purse. There is no evidence that he maintained a large *harem,* as it was customary with the Sultans (monarchs) during that age.[46]

Currency

He introduced some specific changes in mint and applied uniform monetary system in the state. He stopped the use of old debased coins and issued new type of silver, copper and gold coins.[47] The standard currency weights & measurement tools were brought in use, throughout his empire.

The silver coin, introduced by Sher Shah, was named *rupiya* or *rupee.* It replaced *tanka.* This rupee without his inscription, lasted throughout the Mughal period and was retained by English East India company too. This is why it is considered as the precursor modern *rupee*.[48] His silver *rupee* coins weighed 180 grains of which 175 grains were pure silver. But many silver *rupee* coins were of 178 grains.[49] This variation was due to difference of mints, situated in different places of his empire. *Rupee* of Sher Shah is considered as the precursor of our national currency. Further, he took steps to issue a large number of new

silver coins which subsequently became known as *dam* and had their halves, quarters, eighth and sixteenth.[50] The ratio of exchange between *rupee* and *dam* was 1: 64

The copper coins of Sher Shah in which large number of transactions were made by the masses were known as *pai or paisa.*[51] These were issued from various mints, which got increase in number up to twenty three.[52]According to P.L. Gupta the prominent mints from where copper coins were issued during the rule of Sher Shah were at Abu, Agra, Alwar, Awadh, Bayana, Chunar, Hissar, Sambhal, Shergarh (Sasaram), Shergarh (Delhi), Kalpi , Gwalior, Lakhnauti, Lucknow, Malot, Narnaul, Ujjain and Vakka (Sindh).[53]

According to P.L. Gupta, perhaps he did not issue any coin in gold. [54] But some fabrications oh his coins in this metal are known. Together with the silver *rupiya* were issued gold coins called the ***mohur,*** weighing 169 grains. It was made of pure gold and was precious currency.[55] The currency reforms provided him good success in the field of economy.

Postal

Sher Shah administration is also credited for establishing an efficient postal system.[56] For the first time it was made available for public use. There were two kinds of postal conveyance. Mails were carried out by relays of fast running foot runners *harkaras*[57] and speedy horse – riders carriages for heavier goods. [58]

Charitable Works

He engaged himself in many charitable works. For the convenience of the fast movement of his army as well as for the smooth movement of traders and to the common men, Sher Shah constructed many new roads and repaired the old ones, particularly all the high ways. In fact, a networks connected the all important places of his kingdom by means of those excellent roads. The longest of these, the *Grand Trunk Road* which still survives, was stretched from Sonargaon, in present Bangladesh to Peshawar in Pakistan and it measured 1500 *kosh*[59] It has been referred by many names like ***Sadak-i-azam*** , ***Shah Rah-e-Azam***

and ***Badshahi Sadak*** during his time. [60] Among other roads, one ran from Agra to Burhanpur, another from Agra to Jodhpur and the fort of Chittor (which later on was extended up to Gujarat for trade purpose,) and the fourth one from Lahore to Multan. The shadowy and fruitful trees were planted on either sides of these roads. Besides these, foe the convenience of the travelers, he got constructed 1700 *carvan sarais* (inns), [61] temples, mosques on certain intervals along the sides of these roads. Sher Shah administration protected the property of traders. In this regard orders were issued to officers to look after the interest of traders and common travelers. Abbas Khan Sharwani, the Afghan historian writes in a picturesque language that highways were so much safe that an old woman could march from one end of the empire to the other, with large ingots of gold. [62]

Good number of Wells & *baolies* (step wells) were constructed. Furthermore, hospitals for men and animals were made by him to cater their needs. Nearly 500 gold *mohurs* were spent every day for distribution of food to the poor and the needy ones.[63] In this context, he established *langarkhana* (centre for distribution of free food) at the capital of and royal camps. Abbas Khan Sharwani mentions that it coasted to the state 500 *tolas* of gold every day. [64]

Education

There was provision made for public education. The Hindu obtained the freedom for providing education to their children according to their will. Probably some of their institution received grant-in-aid. It is notable that endowments were made to educational institutions and stipends to scholars were liberally made. [65]

For the muslim children, *maktab* was attached to every mosque for imparting elementary education and teaching Persian and Arabic. For imparting higher studies *madarsas* were established and endowed. [66] The older institutions received grants from the state. [67] He also instituted a scheme for scholarship which was awarded on the grounds of the poverty and merit.

His attitude towards Hindus, in general, was tolerant and just. Only an exception is the massacre following the surrender of Raisen. As observed by Prof. K.R.Quanungo, he was not on contemptuous sufferance but of respectful deference towards Hinduism. He employed Hindus in important offices of state. For example, Brahmaji was one of his best General. [68] It received due recognition in the state. His tolerant policy is also reflected on his coins as it bears inscription in both script *i.e. Persian* and *Nagari*. However, *jiziyah* continued to be collected from Hindus.

As it is rightly commented by P.Saran[69] that - 'He repaired, improved organised and perfected every single department of the state with admirable skill and expedition. Peace, security and prosperity in the land as well as confidence in the intentions and ability of the king followed his foot steps.....He bequeathed to his successors the legacy of a thoroughly well organised administrative structure and traditions of a just and tolerant policy as the essential conditions of a durable and good government."

The influence of his innovation and reforms extended far beyond his brief reign. Even his arch- foe, Humayun, referred him as '***Ustad- e-Badshah***' i.e., teacher of the kings.

V.A. Smith observes : '*If Sher Shah had been spared, the Great Mughals would not have been on the stage of history."*

(Vincent Arthur Smith : Oxford History of India)

K. R.Quanungo writes – ' Had Sher Shah been alive for a decade or two more, the *zamindars* as a class would have so disappointed and Hindustan could have become one vast expense of arable land without a bush or bramble , cultivated under the zealous care of indefatigable farmers." (google search *I* NET) Quanungo

REFERENCES

1 Quanungo, Kalika Ranjan1921 *Sher Shah and His Times,* Calcutta (Now Kolkata)

2 U. N. Day1970 *The Mughal Government,* Munshilal Manoharlal Oriental Publishers, N. Delhi, pp. xi-xii

3 P.Saran *Islamic Polity,* Allahabad, p.91 ; U.N.Dey 1970 *The Mughal Governmet,* p. XI

4 L. Prasad 1988 *A History of India*, Cosmos Bookhive (P) Ltd., N.Delhi, p.174

4 *Ibid.*

5 Gazetteer of India , p. 378

6 Imtiaz Ahmad 1989 (Re-print 2012) *Madhya Kalin Bharat* : *Ek Sarvekshan,* National Publication, Patna. P.184

7 L Prasad *Op.cit.*

8 P N Chopara (edt.) Gazetteer of India Vol. II, History and Culture of India, Publication Division, Ministry of Information and Broadcast, N.Delhi, p.378

9 A B Pandey p.74

10 *Ibid* p.76

11 L. Prasad *op. cit.*174

12 P N Chopara *op.cit.* 377

13 *ibid.*

14 A B Pandey *Later Medieval India,* Central Book Depot, Allahabad,p. 75

15 *ibid.*

16 *ibid.* p. 75

17 H C Verma p.28

18 A B Pandey *Op.cit.*75

19 RC Majumdar, HC Raychaudhuri, K K Datta 1946 (Reprint 2009) *An Advanced History of India,* Macmilan Publishers India Limited, N Delhi, p. 433

20 *ibid.* p.433

21 A B Pandey *Op.cit.* p.75

22 R C Majumdar, HC Raychaudhuri, K K Datta *op.cit* 435

23 S A A Rizvi 1987(reprint 2005) *The wonder That was India vol II*, Replika Press Private Limited , Picador India, p.174

24 *ibid.*

25 R C Majumdar, HC Raychaudhuri, K K Datta *op.cit* p.435

26 *ibid.*

27 P N Chopara *op.cit.,*pp.377-378;

The branding of horses was in fact started by Salzuks in12th century. In India it was first brought in practice by Alauddin Khilaji. No doubt Sher Shah borrowed it from him.

28 L Prasad *op. cit.*175

29 A B Pandey *Op.cit.* p. 79

30 R C Majumdar, HC Raychaudhuri, K K Datta *op.cit,* p. 434

31 P N Chopara (edt.) *op. cit.,*p.377

32 A B Pandey *Op.cit.* p.74

33 R C Majumdar, HC Raychaudhuri, K K Datta *op.cit,* pp. 434-35

34 Harish Chandra Verma 1993 (reprint 1997) Madhya Kalin Bharat, khand-2, Hindi Madham Karynvay Nideshalaya, Delhi University, P.28

35 L. Prasad *op.cit.* p.175

36 Kalika Ranjan Quanungo, *Sher Shah p. 18* ; U.N.Dey *op.cit.* p. XI

37 Imtiaz Ahmad 1989 (Reprint 2012) *Madhyakalin Bharat : Ek Sarvekshan*, National Publication, Patna, p. 185

38 Gazetteer p.377

39 A B Pandey *Op.cit.* p.76

40 A B Pandey *Op.cit.* p.77

41 P N Chopara *Op.cit* p. 377

40 *Ibid* p. 378

41 L. Prasad *op.cit.* p.175

42 *Ibid*p.77

43 Harish Chandra Verma *Op.cit.* p. 30

44 A B Pandey *Op.cit.* p.77

45 Imtiaz Ahmad *op.cit* p.185-86

46 P N Chopra *op.cit.,* p. 378

47 L Prasad *op.cit* p.175

48 *Mughal coinage* RBI Monetary Museum, Reserve Bank of India Achieved from the original. retrieved Dated 26 May 2020

49 Harish Chandra Verma *Op.cit* p.29

50 Mitra M S

51 www.mintageworld .com *Copper coins of Sher Shah Suri*

52 Harish Chandra Verma *Op.cit* p.29

53 Parmeshwari Lal Gupta 1969 (reprint 2013) *Coins,* National Book Trust, N. Delhi, p.118

54 *Ibid.*

55 Museum RBI mrbi.org.in 26May 2020

56 P N Chopara *Op. cit.* p. 378

57 A.B. Pandey *Op. cit.* p. 79

58 P N Chopara *Op. cit.* p. 378

59 R.C, Majumdar, HC Raychaudhuri, K K Datta *op.cit,* p.434

60 https.*II en.m.eikipedia org* Grand Trunk Road

61 L Prasad *op.cit* p.175

62 Abbas Khan Sarwani, (1580) *Tarikh-e-Shershahi* or *Tuhafat-I-Akbarshahi,* Accouts of Reign of Shershah, Sir H.M. Elliot, Packard Humanity Institute, London; A B Pandey *Op.cit.,* p.74

63 L Prasad *op.cit* p.175

64 Abbas Khan Sarwani, (1580) *Tarikh-e-Shershahi* or *Tuhafat-I-Akbarshahi,* Accouts of Reign of Shershah, Sir H.M. Elliot, Packard Humanity Institute, London; A B Pandey *Op.cit.,* p.78

65 P N Chopara *Op. cit.* p. 378

66 Google. Mitra's IAS *Administration under Sher Shah*

67 A.B. Pandey *Op. cit.* p.78

68 R C Majumdar, HC Raychaudhuri, K K Datta *op.cit,* p. 435

69 Parmatma Saran *Islamic Polity,* Allahabad, p.91

Other Readings

- Moreland, W.H. not dated *The Agrarian System of Moslem India* (reprint), Allahabad
- Shershah Suri *Encyclopedia Britanica*
- Chaurasia, Radhey Shyam 2002 *History of Medieval India* (from 1000 AD to 1707A.D.), Carbtree Publishing company.
- Lane-Pool. Atainley 1903 (reprint 2007) *Medieval India under Mohemmedan Rule* (712 -1764 AD), Sange Meel Publication.

RELATIVITY IN THE TIMES OF CORONA

Dr. Kopal Vats*

With the advent of corona virus the world, at large, grappled with multiple issues like anxiety, isolation, hopelessness, boredom and above all, a terrible and frightening 'apathy', the mother of all evils. The virus is free from class prejudice but its targets are not. It is especially during the times of such crises that the chinks in our social armour surface as bleeding gashes. The flood of food-porn hash tags make me wonder, how when life gives some people 'the blues', they make blueberry muffins. The pseudo-literal cherry on top is that the perfect picture is just a filter away. Sepia-toned mango ice-creams transport you to the Victorian era when the Queen herself failed to conceal her childlike ecstasy at the sight of the plump fruit; a gift to self from her exotic colony. As distant was Queen Victoria from the true picture of her colony, so remain the migrant workers from the hash tag-chefs in their ivory kitchen towers. Thousands of indistinguishable faces, a heap of agitated confetti, desperate and unassuming, thronging into buses and trains, to reach a place they call 'home'. This picture is nothing but dismal irrespective of the filters.

I precariously balance my mood swings, an amateur chef on some days and a sentimental couch potato otherwise. On one of the latter days of inactivity, during my aimless internet tour, I found an information capsule on Einstein's theory of relativity. None of the excuses could be wielded now; the drab books had been shunned away with fear and anger but the animated video seemed fun and tempting. One minute into the video and the thud cracked me up. GRAVITY IS NOT A FORCE! Then, few seconds later came along SPACETIME. Theory of relativity is pinnacle of Einstein's imagination and a proof of

*Assistant Professor, Department of English, MLSU, Udaipur (Raj.)

his relentless optimism as well. It sets out to prove that everything in universe is inherently connected. The socially induced isolation and loneliness are born out of Man's defiance of an empathetic universe.

Space-time can be imagined as a supple, viscous medium that fills the universe. Yes, for Einstein the universe is not made up of vacuum. All objects from the mighty Sun to the single celled microbes (the virus itself too) are immersed in it. All objects in proportion to their size and mass cause the medium around them to warp. To understand this, one must imagine the elasticity of a trampoline. A heavy ball placed on it would cause it to warp and the ball would sink into a pit created under its own weight. In the universe too, all objects with mass, slightly sink into a depression induced by their own weight. Any other lighter object in motion, would be induced, to slide into the pit of the heavier object. This is the phenomenon of rotating bodies and that only smaller bodies can revolve around the larger bodies and not vice versa.

Einstein's major emphasis on the fourth coordinate i.e. Time makes it interesting beyond measure. All objects have their three spatial coordinates that determine their position. Certainly, it is an easy fact to understand in the age of GPS balloons. Time as the fourth coordinate implies that everything in the universe has a specific position at each moment of time. Every object that exists, takes up some place in the space but it also takes up its position in time. These continuous still positions at each moment, give the impression of motion when viewed in quick succession. It is the same as a flipbook.

That the theory of general relativity was revolutionary in science is a given but to my chaffed optimism it felt like a spiritual balm. It provided me with a whole new perspective to understand ways of God. The universe is never static because everything is subject to the fourth dimension of time- an idea that makes up for majority of social media cover quotes 'This too shall pass'.

Thousands of years of human endeavour have been one long struggle in search of meaning of life. Many a man defeated by their obstinate lives, declare in a fit of Nietzschean madness that life is a cruel chaos. Yet, Einstein's claims simply assert orderliness. In the post-

Newtonian age, when the apple drops on the ground, it is fulfilling its subsequent positions in future along the time axis. Its trajectory is along the warped space-time around the Earth which causes it to trickle towards it. The perpetual motion in universe is inevitable. The falling apple is actually covering a trajectory that it does not decide for itself. It is determined by the influence of the planet earth. Our existence is an interlinked system wherein our metaphorical trajectory is influenced by those around us. We are all together subject to the time axis. The hard-boiled attitudes during the chaos of the pandemic reflect a sense of ignorance of the intricate design of our universe. I am reminded of the following insightful lines by the metaphysical poet John Donne-

No man is an island,
Entire of itself;
Every man is a piece of the continent,
A part of the main.

If a clod be washed away by the sea,
Europe is the less,
As well as if a promontory were:
As well as if a manor of thy friend's
Or of thine own were.

Any man's death diminishes me,
Because I am involved in mankind.
And therefore never send to know for whom the bell tolls;
It tolls for thee. (Meditations XVII)

The moon revolves around the Earth, which in turn revolves around the Sun. All bodies inadvertently intend to trickle towards the larger, more influential bodies. A mesmerising symbol it is of Man's desperation to unite with the higher Energy. God. The preordained discipline of our planetary bodies is a constant reminder that we are tiny but significant parts of a self-sustained system. The insurmountable distance separating stars is not a relentless vacuum. Instead, we are tenderly ensconced in this medium. It ensures nourishment, growth,

evolution and a consequent amalgamation back into its elements. Our lives are interwoven within the fabric of space-time.

Any form of 'apathy' is a failure at understanding ourselves, our surroundings and our universe. Distance is an illusion. Separation is a myth. A water drop falls into a water body, warping the surface, causing ripples, ultimately becoming one with it but lost to the onlooker. Space-time is the huge expanse subsuming all that we can see and also that which remains elusive to our eyes.

These times of trouble have witnessed an unprecedented closure of man's places of worship. Perhaps it is God's way of hinting to us that if we deign to look around us, to observe faithfully, the miraculous discipline of Nature, our jitters will be dispelled. I am sure the difficulties that we face today have a fourth coordinate as well!

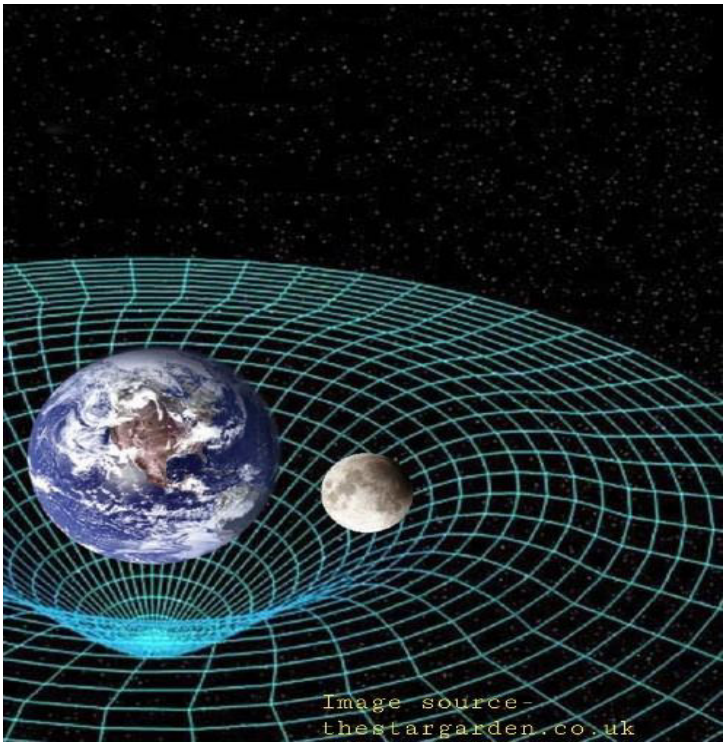

MAINTAINING RELIGIOUS AND CULTURAL IDENTITY IN DIASPORA : GUJARATI PRAJAPATI COMMUNITY AND BABA RAMDEV'S SANATAN DHARMA IN LONDON

Vaidehi Paneri*

Religious traditions in the diaspora can reflect the communities and their efforts to keep their religion intact and alive. Apart from the Pan-Indian Deities who have established a fixed identity in the Indian subcontinent and around the globe, syncretistic religious traditions like that of Baba Ramdev give a platform to reflect community's identity in the past as well as in present. The Gujarati Prajapati community is one such following of Baba Ramdev who associate him with their age old tradition of Sanatan/Maha Dharma. Baba Ramdev, a god who has a multi-religious identity not only serves to depict the religious tradition of the community, but also reflects their identity in diaspora. Religion here holds primary importance to understand how communities especially lower Jatis establishes their identity in the diaspora.

This article would start with an explanation of the understanding of Baba Ramdev tradition and Sanatan dharma, followed by the community of Prajapatis in the diaspora and their link with the given tradition. I have particularly brought in a part in this essay explaining the celebration of Ramdev Jayanti in London to show the amalgamation of two different religious traditions. Finally, the concluding paragraph gives a broader understanding of how the 'identity formation' of lower Jatis in the diaspora has a close connection with syncretistic religions.

RAMAPIR/ BABA RAMDEV AND SANATAN DHARMA

Baba Ramdev is a folk deity of Rajasthan, India. As popularly

*Ph.D Student, Department of religious Studies Syracuse University, U.S.A.

known, he is a fourteenth-century ruler, said to have had miraculous powers, devoting his life in the upliftment of the downtrodden and poor people of society. He is worshiped today by many social groups of India. Rajasthani legends around Ramdev consider him to be an incarnation of Lord Vishnu, a pan Hindu God as the 'Kalki avatar". (Bishnoi, 1989)

Ramdev cult and its traditions got modified from time to time. The most popular and celebrated image of Baba Ramdev is that of a Hindu Rajput warrior god. This popular depiction of Ramdev tradition in India came through selective appropriation of orthodox Brahminical tradition and further establishing the entire narrative on it. This idea of Baba Ramdev is still the most prevalent form of his worship in India.

This popular image of Baba Ramdev got legitimized from two major historical narratives. One was through the 'Rajput" narration which came around 14^{th}-15^{th} centuries when local Rajput rulers wanted to increase their power and legitimization among lower Jatis (Dube, 1996). As a result, folk cults like Ramdev and his traditions got modified as per Rajput traditions and rituals. The other narration came during the 19^{th} and 20^{th} centuries when Nationalism and its sentiments were at its peak in India and a more orthodox form of Hindu religion was seen as a tool to increase nationalist sentiments. As a result, an already 'Rajputized God" increasingly lost all of his folk elements and got centered only on one religion- Hinduism influenced by the Brahmanical ideas (Binford, 1976).

A closer investigation by Dominique Sila Khan in her intensive studies on Baba Ramdev tradition brought into light the lost folk elements of Baba Ramdev in the forefront. It has to do with an intimate and forgotten connection of Baba Ramdev's religious tradition. Khan investigated an entire belt of lower Jatis, who still count as a majority of the following of Baba Ramdev, to study the folk elements of the tradition.

Baba Ramdev's followers are found most prominently in India in the states of Rajasthan, Gujarat, Haryana, and Punjab and Sindh in Pakistan. A majority of the followers of Baba Ramdev come from lower Jatis of Meghwals. The Meghwals and other lower Jatis have combined

the religious tradition of 'Sanatan/Mahadharma' with Baba Ramdev. Oral Histories around Meghwals (particularly Dalits) tell about Sanatan/ Mahadharma to be a very different form of Hindu religion especially parting with Vedic rituals. According to them, 'Hindu Religion is the Sanatan Dharma; every religion has come out of the Sanatan itself". (Helia, 2014) This appeal of Sanatan religion, which incorporated all faiths together, opened up the possibility for lower Jatis to incorporate their religious traditions into the realm of Baba Ramdev's orthodox brahminical religion (Franco, Macwan and Ramanathan, 2004).

The religious tradition of Sanatan/ Mahadharma, particularly of these lower Jatis, has been taken from the concept of 'Nizari Dharma' of Ismailis. According to Khan, it was the 'Imam' or Perfect Man (a concept derived from Iran where Nizari tradition originated) who was responsible for spreading Nizari tradition among all of his followers. The concepts of Nizari tradition in recent times hold different names like Mahadharma with quite a similar notion of teachings (Khan, 1997). Ismailis, who propagated Nizari dharma, were a group of people who detached from the Shia community of Islam and came into the Indian subcontinent from Iran in the 12th century through one of the major trade routes crossing Sind-Punjab-Rajasthan-Gujarat. With the main motive of increasing their own faith, which was based on Nizari tradition, Ismailis started the expedition to spread their ideas among people they encountered. Initially they tried to win followers by accepting religions of both Hindus and Muslims, but eventually revealed their real tradition and inculcated the same among all of their followers.

According to Khan, Baba Ramdev is said to be one of the leaders of the Ismailis. She has suspected this through several historical records, which mention Ismaili tradition and its link with Baba Ramdev. Since Ismailis always feared hatred from all kinds of heretic religions, it was practiced secretly. Though hidden, it gained immense popularity, especially among lower Jatis under both Hindu and Muslim religions. These Jatis saw this as an opportunity to escape from the oppression of upper Jatis and their segregation in the former's religion. Since Ramdev was the leader of one of the groups of followers of Ismailis, people from

all Jatis and faiths came under him. According to Khan, however, the upper Jatis in the realm of spreading Hinduism have converted these Ismaili elements under Hindu rituals showing Ramdev as a Kshatriya Hero-God accepted by all faiths. In the present times, only a selective portion of devotees within the Ramdev religious tradition venerate Ramdev with Mahadharma, a religious tradition that shares similarity with Nizari tradition. Most of these communities are of lower Jatis in Gujarat.

RELIGIOUS TRADITION OF PRAJAPATIS

The Diasporic community of Prajapatis forms a small proportion of the population in rural Gujarat. They migrated to East Africa during the period of British colonization as a part of indentured labor accompanied by a series of natural disasters in the late 19th century. Prajapatis as a result, decided to seek their fortunes overseas. In Kenya, being the skilled craftsmen they took advantage of colonial construction boom and got engaged in jobs like that of carpentry or construction working. They were mentioned as 'Choti Jat" by other Gujarati affluent migrant communities of Patidars and Lohanas. (Oonk, 2007) While a small proportion of Prajapatis made their way directly to Britain from Gujarat, the vast majority arrived by the way of East Africa. Belonging from a humble background, their wealth was not matched by a strong political base; hence when nationalist movement authorizing the citizenship in Kenya gained momentum, many Indian communities like Prajapatis came under increasing pressure from the upward 'mobile aspirations of the local Africans." In response to this pressure, a major chunk of Prajapatis migrated to Britain from 1967 onwards. (Roger and Marcus, 1994)

This Prajapati Gujarati community in London identify themselves to Baba Ramdevpir's tradition of Sanatan/Mahadharma. According to Prajapatis, 'Sanatan or Mahadharma can be defined or interpreted as the Main duty towards all human beings. Maha Dharma is known by various names, namely, Maha, Nijar, Nij or Mul Panth. All these names mean, The Main Road or The Great Way." According to them, Sanatan Dharma was initially practiced only by upper Jati. It was

only through a practice of 'Paath-Pooja" that several priests laid down principles of Mahadharma among the lower castes to achieve liberation. (Ramapir.org)

They trace the history of this religious tradition to one of their 'Sants" or saintly figure that migrated to Kenya in 1927 from the Saurashtra region of Gujarat. While the name of this Sant is unknown, he is associated with the work of carpentry. Carrying the tradition forward, the concept of Sanatan or Mahadharma came to be associated with several elements of Gujarati and Brahminical Hindu tradition. This is how Sanatan/Mahadharma and Baba Ramdev reached in the diaspora. In the years of 1970-73, the ideas of Mahadharma spread in full force in London leading to its own formation of literature around Baba Ramdev like *Shri Sant Charit Manas,* a book including significance of Mahadharma along with Baba Ramdev's hagiography. Ramdev Jayanti, a celebration to commemorate Ramdev's birth, was celebrated in 2003 in East London under Bhakta Mandal which is a Kshatriya Sevak Mandal responsible for organizing Hindu festivals in U.K. (ramapir.org).

RAMDEV JAYANTI AND THE AMALGAMATION OF TRADITIONS

Ramdev Jayanti is celebrated around August-September commemorating the birth of Baba Ramdev. The practice of performing Ramdev Jayanti is a recent addition among the Prajapatis in London. It is accompanied with a short-distanced pilgrimage, which is inspired by the rituals and traditions that are followed at Ramdeora, Rajasthan. As Ramdev Jayanti at Ramdeora is practiced only on the basis of Brahminical Hindu tradition, this leads to the concept of 'Invented and Imagined tradition". (Ranger, Hobswam, 2012.) The festival in London is conducted by organizations like Kshatriya Sevak Mandal and Vishwa Hindu Parishad which are orthodox brahminical organizations. The Prajapati community then disregards their own tradition of Sanatan/ Mahadharma when backed by these organizations and indulges in Pan-Indian Hindu practices. They conduct Ramdev Jayanti in the temple where all the major Hindu festivals take place. It also involves the other Hindu communities who are not aware of Sanatan Dharma and inclusion

of elements like 'Aarti" along with reading of Ramdev's Parchas. This celebration attaches Ramdev's tradition with orthodox brahminical rituals.

Ramdev Jayanti celebration in the diaspora establishes a departure from other lower Jatis in India, who completely disregard orthodox rituals. (Helia, 2014) One important reason for such a shift can come through the modification of Baba Ramdev's setting from rural to an urban landscape. While rural setting caters to a limited amount of population who identify Baba Ramdev's icon as a way for the upliftment of their society, the need of community in the diaspora can be different. Though the community in the diaspora also belongs to a lower Jati, the element of higher 'class' coming up through living in an urban landscape eliminates the need for upliftment of the society. Baba Ramdev then primarily in the diaspora is seen as a leading figure to carry out Sanatan/ Mahadharma on a large scale. Since the motive of this community is to spread this religion far and wide, they let this religious tradition undergo through two elements- Transformation and Preservation. Preservation can be understood as the need to conserve the religion of Sanatan/ Mahadharma so as to remember the agony of the community's history which it suffered during migration. Transformation can be understood as an attempt made by the community to gather following in the diaspora. This is particularly evident during Ramdev Jayanti, when there is an absence of any elements of the religious tradition of 'Sanatan/Mahadharma' and inclusion of orthodox Brahminical rituals.

CONCLUSION

Baba Ramdev tradition in the Diaspora is an alternate understanding of syncretistic religious traditions of India. Here, it is the lower Jatis, which even in India practice Baba Ramdev's traditions in a different light but can't establish the religion, as both their number and position within the dominant Hindu society is minor. Diaspora, however, provides a platform for the lower Jati communities like that of the Prajapatis to seek religion according to the rituals which depart from the orthodox Hindu one. Since the religious tradition gets spread through a lower Jati community in the diaspora, it remains the prominent form of

worship unlike in India where Brahmin-Kshatriya elements are widespread. Interestingly, the concept of Mahadharma which Prajapatis connect with Sanatan dharma has a close association with the Nizari dharma of Ismailis. This tradition brings back the connection of Ramdev with Ismailis that got lost with the increase in 'Hinduization" of this religious tradition. However, the departure of orthodox Brahminical tradition does not completely disappear, as is evident during Ramdev Jayanti. An attempt to gather more following especially on festivities leads to a departure from Sanatan/Mahadharma religion of Prajapatis. The identity of lower Jatis, like that of Prajapatis, combines various elements to sustain their age old religious tradition which has traveled from two countries to retain their religious identity connected with their Guru or Sant. As Robert Smith explains, 'religion and faith among the Migrant community is also used to remember and realize the sufferings, separation and loss their community might have faced in the past."(Fredrika and Naggy, 2016) Diaspora therefore not only provides a fresh and new ground for lower Jatis to establish their own form of religious tradition but combine certain other rituals as per their own need. The space to modify the religion attributes to the syncretistic nature of folk religion of Baba Ramdev. Understanding such religious traditions can be complex as with time and spread, such syncretistic religious traditions might be modified as per the community's needs.

REFERENCES

1. Ballard Roger, Banks Marcus, ' Desh Pradesh: The South Asian presence in Britain": London:Hurst, 1994:186-196

2. Bishnoi Sonaram 'Baba Ramdev: Itihas Evam Sahitya": Scientific Publishers, Jodhpur 1989.

3. Binford Reym Mira 'Mixing tin the Color of Ram of Ranuja" in *Hinduism: New Essays in The History of Religions, ed. Bardwell L. Smith* :Leiden E.J. Brill, 1976:121-141.

4. DharamThi Gujarati, 'Lord Ramdev's Sacred presence in Piplidham"https://www.voot.com/shows/dharam-thi-

gujarati/1/425074/lord-ramdevpir-s-sacred-presence-in-pipli-dham-/45410

5. Dube S.N. , 'Ramdeo Pir as an Ismaili Missionary Religious and Social confrontation in Medieval Rajasthan" in *Religious Movements in Rajasthan* :Centre for Rajasthan Studies,1996: 106-129.

6. Franco Fernando, Macwan Jyotsana, Ramanathan Suguna, ' Journeys to Freedom: Dalit Narratives: Bhatkal and Sen, 2004. 207-246.

7. Frederika Martha and Nagy Dorottya, 'Religion, Migration and Identity":Brill.com,2016:9-29

8. Gold Grodzins Ann, 'Dealing with Deities" in *Fruitful Journeys: The way of Rajasthani Pilgrims*. :Oxford University Press, 1989: 135-272

9. Helia Mayur, 'Exploring the Narrative History and Experiences of Meghwal Community: AnEthnographicStudy":https://roundtableindia.co.in/index.php?option=com_content&view=article&id=9513:exploring-the-narrative-history-and-experiences-of-meghwal-community-an-ethnographic-study&catid=124:research&Itemid=140

10. Khan Sila Dominique, 'Conversions and Shifting Identities : Ramdev Pir and the Ismailis in Rajasthan":Manohar, 1997

11. Oonk Gijsbert, 'Global Indian Diaspora: Exploring Trajectories of Migration and Theory": Amsterdam University Press,2007: 149-166.

12. Ranger Terence, Hobswam Eric, 'The Invention of Tradition": Cambridge University Press, 2012: 1-14.

MEWAR AND WORLD WARS

Rahul Kumar*

Introduction:

Mewar was the state located in the south-western region of Rajputana. It was founded in the 8th-century, c.e., and impregnable by the other states because of mostly surrounded by the hills. Historically, the Mewar gave birth to many powerful rulers known for bravery, dignity, and patriotism towards the homeland. They were the staunch advocates of freedom and defended their faith and religion, rights, and home from the clutches of a foreign power with extreme courage, sacrifice, and tenacity. Their motto was:-

-- ***"Jo drirha rakhe dharma koun tihin rakhe katar"*** --

The Almighty protects those who stand Steadfast in upholding righteousness.

Rawal Ratan Singh, Maharana Kumbha, Maharana Sanga, Maharana Pratap name a few who fought against the Muslim invaders and sacrifice their life for the freedom of Mewar. Whereas, on the other hand, they supported their allies with the utmost will. Maharana Amar Singh II signed the peace treaty with Akbar, and after that, Mewar remained the ally of Mughal power with some hiccups in between their relations.

Later in the middle of the second half of the 18th century, when the British established their control on the significant part of India, they adopted the policy of subsidiary alliance to strengthen their control over India. Will Durant, in his "The Story of Civilization: Our Oriental Heritage," compared the Rajputs to Samurai clan mainly because of their

*Research Scholar Department of History Mohanlal Sukhadia University, Udaipur (Raj.)

honor, own code of conduct, and warrior class.[1] Col. James Tod has said in his "Annals and Antiquities of Rajasthan" that the Britishers should make Rajput's ally as the Mughals did. Viceroy Lord Hastings entrusted the duty of negotiating alliances with the states of Rajasthan to Charles Metacafe, the British resident at Delhi. Maharana Bheem Singh signed the treaty with the Britishers on 13th Jan 1818. After that, Mewar remained as princely state till the independence of India in 1947.

The 20th century will be remembered by humanity for the World Wars fought in the first half of the century. These wars are one of the most violent and devastating events that ever occurred in the history of humankind. These wars affected almost every country and all aspects of human life.

After the Industrial Revolution, the new ideology prevailed in world affairs. Every European country was searching for markets for their goods. They targeted Asian and African countries and started establishing their control over them. The ideology of imperialism then flourished, which became one of the leading causes of World War. Due to the various events that happened in the last century in Europe, these wars became inevitable. The nations started forming alliances with each other, which led to the formation of two camps. The allied power camp represented Britain, France, Russia, Serbia, etc. and central powers represented Germany, Austria-Hungary, Bulgaria, etc. The war started after the assassination of Archduke Francis Ferdinand on 28th Jun 1914.

For the World War Ⅱ, the humiliating treaty of Versailles gave rise to the feelings of hatred, revenge, national self-interest, and future security. These feelings raised dictators Hitler and Mussolini. They both gave the new ideologies of Nazism and Fascism to the world. Also, the great depression, allied powers policy of extracting reparations from central powers, Japan's imperialistic policy were some of the causes that led to the war. Politically world divided into two camps supporting the principles of democracy and authoritarianism/ totalitarianism.

India was the colony of Britain from the mid 18th century, dragged into the war by Britain without even consultation with the

leaders of India. Indian National Congress opposed this behavior of Britishers and demanded self-government than only they will participate in the war. They took the war as an opportunity to gain freedom. They argued that if Britain was fighting for democracy, then why they have established their control on India. On the other hand, many Princely states actively came forward and supported Britain wholeheartedly according to their abilities. They provided financial and military support to Britain.

Maharana Fateh Singh and World War 1:

During world war, 1.3 million Indians participated and fought in every theatre across the world. The Rajputana states participated in the war full-fledged. They sent soldiers to combat the central powers. Even the Maharaja of Bikaner, Ganga Singh himself, participated in the war and attended the Treaty of Versailles. A special battalion named as Rajputana rifles represented the Rajputs. The battalion of Rajputana Rifles combated in France, Mesopotamia(Iraq), Palestine and East Africa, etc.

Maharana Fateh Singh became the ruler in 1884, and in 1887 he received G.C.S.I. (Knight Grand Commander). After the approval from the Agent to the Governor-General(A.G.G.), he established his control over Mewar. He took various steps to improve the administration. The relation between Maharana Fateh Singh and the Government of India was of ups and down nature. But, at the commencement of World war, he fully supported the Britishers, providing every help and service which they wanted from him.

When A.G.G. of Rajputana visited Udaipur at the outbreak of war in Europe, Maharana conveyed his help by saying that:[2]

'Our hearts are at present heavy with other cares also, and those are for the great and widespread war that is being waged in Europe. I hope and trust that this fire will soon be extinguished, but if war continues, which heaven forbid, then England may, with confidence, count on the hearty support and co-operation of its friends and allies. Our earnest prayer is that victory will be granted to England."

'I also desire to express that the state of Mewar is ready, on the present occasion, with all its heart to render every help and assistant in its power."[2]

Foreign Secretary, G.O.I thanked Maharana for his offers and informed that in the course of operations require the employment of armed strength of India, the advantage of this offer would be taken over time.[3] Even special mention should be given to Goswami Shri Govardhan Lal Ji Maharaj Tikayat of Nathdwara, who assured his loyalty and that of his followers in and out of Nathdwara. He also directed that extra prayers be daily offered to the shrine of God Shrinathji for the complete victory of Britain.[4] Local chieftains provided their support to the British Government. Raja Amar Singh, Thakur of Banera, and Rawat Madhav Singh of Betara offered their services for employment in connection with the war. Khan Bahadur Darashaw N. Modi, Assistant Kamdar, Shahpura, also offered his services for war.[5]

Later in June 1915, the Government of India asked by the medium of telegram for the 300 men from three states, i.e., Rampur, Udaipur, and Gwalior, for the training of horses arriving from Australia. In response to this telegram, Maharana Fateh Singh supplied required men from Udaipur Lancers. This troop was consisting of an Indian officer, three '*Dafadars'* (cavalry sergeants), four '*Lance Dafadars*, one *Salutri*, one *Farrier,* and Forty-three *Sawars*. It was also informed to the Government that the number of *sawars* if required, could be increased to 75.[6]

Maharana actively provided support to the Government of India. He kept all the disputes with the G.O.I aside and remained true to his words, which he conveyed at the commencement of the war. He established a new squadron named "Mewar Lancers" and sent this to Devlali with 500 soldiers. He provided a war loan to G.O.I. of Rs13,00,000.[7] During the war, Mewar was going through the period of internal dissension. Peasant movements were picking up at speed, and local leaders were demanding various rights. Regardless of all these events, Maharana kept his promise and supported G.O.I with all his capabilities. He also gave donations to the Red Cross Association

(shifted injured soldiers, casualties from war zone to the hospitals), Aircraft, and other spheres related to war. He donated around Rs10,00,000 to these organizations and others.[8]

Maharana, through Udaipur Darbar, also granted the lease for mining mica in the Udaipur state to the hon'ble Mr. M.B. Dadabhoy, C.I.E, and F.F. Chrestien and Company Ltd. Maharana. Maharana stimulated the production of Mica for the Ministry of Munitions.[9]

The Prince Bhupal Singh actively participated in the proceedings of the administration. Maharana gave a war loan in the name of Bhupal Singh to the G.O.I. They returned dept on 14th Feb 1918, which Maharana didn't accept and asked them to donate this amount to any fund. G.O.I used this fund for purchasing Ford motor vehicles for security purpose transport. Till the end of the war, Maharana thoroughly and actively supported G.O.I. For the services he provided in the war, he honored with the title G.C.V.O (Knight/Dame Grand Cross, the highest grade of Royal Victorian Order) in 1918.[10]

Maharana Bhupal Singh and World War 2:

Maharana Bhopal Singh acquired the active power in 1921 but acceded to the throne in 1931. Under his father's rule, he actively participated in the day-to-day affairs of the state, and he even provided his services to the Government of India whenever required. Due to his assistance, the Government of India gave him the title of K.C.I.E. on 3rd Jun 1909.[11] During the year of accession, he honored with the insignia of G.C.S.I. He came out with different measures/reforms for the better functioning of the administration and the improvement in the conditions of the people of the state.

On the global front, the outbreak of another world war, totally shaken every individual on the planet. Every country was affected by the intensity of the war. As a British colony, G.O.I dragged India into the war without even consulting with the leaders of India. In the later stages, the war came to the eastern boundaries of the country. As I.N.C. wanted the self-government, they remained aloof from the war.

But on the other hand, princely states supported Britain in their efforts to overthrow the ideology of authoritarianism. Maharana Bhupal Singh openly supported Britain in their struggle and provided all the services to his capability. At the commencement of the war, he donated Rs 75,000 to the war fund and promised to give Rs 50,000 every year to the fund until the war is over.

In July 1940, a Central War Committee with subcommittees was formed.[12] These committees were engaged in the collection of voluntary contributions to the war purposes fund. They were also required in the organization of entertainment and beneficial performances in aid of war front and counteracting false rumors and alarmist stories related to war.

Maharana ordered different ways to provide support. People from all around came forward to give a hand to Maharana. Financial help was given through various sources. The total amount invested under the Saving Certificates, Defense Savings Banks, and Defense Bonds were Rs 3,87,710 and £ 4,375. All the government servants getting a salary of more than Rs 30 per month were ordered to donate one day salary every month to Defense loans and savings.[13]

Women of Mewar actively participated in the war efforts and organized a work party for sewing and knitting articles that were sent to the Red Cross. They held Hindi plays in aid of the Red Cross work.[14] Plays related to war performed at different stages to apprise them of the war. Propaganda work was carried away in all over the state. A weekly news bulletin, '*Jung ki khabaren,'* was published by one subcommittee.[15] Through this bulletin, war news was delivered to the people of the state. Every individual was now able to know the events happening in the war. The Government of India also took part in these activities and asked for their active support in any manner. They prepared Magic Lantern slides and were exhibited everywhere in the state. In April 1942, the publication of *Jung ki khabaren* was stopped, and a bi-monthly paper called *Vijaya* was started.[16]

These efforts focus on some aspects that, when political awakening was at its peak in the nation, the princely state still supported Britain in the war. I.N.C. was preparing for another nation-wide

movement. The demand for self-government was increasing day by day. Even the people of princely states became active and started demanding their fundamental rights. Praja Mandals were formed in princely states, and local leaders came forward against the British rule. Despite all these events happening in the country, people of Mewar remained with their Maharana. The men and women actively participated in the war efforts and respected the words of their Maharana.

Maharana also provided military support, which was the most necessary in these times. The Bhopal (Mewar) Infantry was organized and left Udaipur on 30th Oct 1944 for training in India and left India for overseas on the 5th June 1941.[17] Mewar Lancers and Mewar Infantry fought mainly in the central east region. Massive recruitments were conducted both to state forces and to the Indian army from Jahazpur and Bheem districts. Various scholarships and concessions were offered to them, asking for active services. The salary of the personnel of Bhopal infantry was increased on 1st Oct 1941. The wages increased again on 1st Jan 1942 to bring their pay to the level of the Indian army rates.[18] During the war, Rajsamand lake was provided as a landing base for the naval airplanes.

The Government of India inaugurated the National War Front Movement on 5th Apr 1942 to encourage the state employees to join war services.[19] G.O.I, with the Maharana, encouraged every citizen of the state through different methods. Pracharaks and musicians were engaged to tour in the state.[20] The Government granted various concessions to individuals who are eligible and will proceed for war appointments or will provide services in other ways.

Conclusion:

The two world wars deteriorated every sphere of all the countries of the world. They were the most fierce and devastating wars ever fought. These two wars led to the millions of casualties and millions of the people wounded.

Because of the British colony, India also had to participate in the wars indirectly. Princely states actively came forward and participated in

the war. In World war 1st, the Indian army fought against the German Empire in German East Africa and on the Western front. In World War 2nd, the British Indian army fought different battles against allied powers. The British Indian Army fought in Ethiopia against the Italian army in Egypt, Libya, Tunisia, and Algeria against both the Italian and German army and after the Italian surrender, against the German army in Italy.

From ancient times, Mewar is known as a state which gave birth to rulers who are courageous, reliable, trustworthy, loved their integrity and freedom. They always remain loyal to their words and their allies. After the treaty of 1818 with G.O.I., they remained loyal to the Britishers in any conditions.

Likewise, when the whole world was under the fire of two world wars, Mewar also provided active services to the British Government of India. Every princely state offered its services to G.O.I, but Viceroy chose Jodhpur, Bikaner, and Kishangarh from Rajputana to the war front in 1915. Other states of Rajputana, like Jaipur, Alwar, Bundi, etc. also assisted British efforts in the war. Both Maharana supported in all manners and provided aid through financial, military, and other mediums. Even we see, Thakurs from thikanas volunteered themselves in the services to the G.O.I. Prayers offered in Shrinathji temple, Nathdwara, for the victory of Britain. The common people came forward to indulge in activities to show their support to the Government. We don't see much role of women in the 1st World war, but in the 2nd world war, they actively participated in the services of war. The titles honored to Maharana Fateh Singh and Maharana Bhupal Singh by the British Government of India shows the nature of participation of Mewar in the wars. They remained faithful to the values of Mewar for which it is known to the whole world.

REFERENCES:

1. https://www.historyanswers.co.uk/history-of-war/indias-samurai-the-british-empires-love-affair-with-the-rajputs/

2. https://www.abhilekh-patal.in/jspui/handle/123456789/2741871?frontend&my-list&query=[query=&frontend&rpp=20

Foreign and Political Department, Internal-B, May 1915, Nos. 201-545, Pg. 93

3. Ibid. Pg. 97

4. Ibid. Pg 147

5. Ibid. Pg.148

6. https://www.abhilekh-patal.in/jspui/handle/123456789/2741982?searchWord=UDAIPUR&backquery=[location=&query=UDAIPUR&filter_field_1=dateIssued&filter_type_1=equals&filter_value_1=[1913-01-01%20TO%201920-12-31]&filter_field_2=dateIssuedTo&filter_type_2=equals&filter_value_2=[1913-01-01%20TO%201920-12-31]&rpp=20&sort_by=dc.date.accessioned_dt&order=desc&originalquery

Foreign and Political Department. Internal-B. Aug 1915. Nos. 301-305. Pg. 3,16

7. Ojha, Hirachand Gaurishankar Bahadur Rai. ***Udaipur Rajya Ka Itihas*****, Part-1,** Rajasthani Granthagar, Jodhpur**,** Fourth Edition, 2015. Pg. 711

8. Ibid. Pg. 711

9. https://www.abhilekh-patal.in/jspui/handle/123456789/2748039?frontend&my-list&query=[query=&frontend&rpp=20

Foreign and Political Department, Internal-A, Aug 1918, Nos. 16-44

10. Agrawal, Lakshmi. ***Maharana Fateh Singh Ji Aur Unka Kaal (1884-1930)***, Himanshu Publications, Udaipur. Pg. 70

11. https://archive.org/details/in.ernet.dli.2015.34642/page/n17/mode/2up

Sir Sukhdeo, Thakur Jasnagar. 'Mewar under Maharana Bhupal Singhji G.C.S.I." Pg. 18

12. https://archive.org/details/in.ernet.dli.2015.36082/page/n21/mode/2up

Report On The Administration Of Mewar State, 1940, 1941, 1942. Pg. 22

13. Ibid. Pg. 22

14. Ibid. Pg. 22

15. https://archive.org/details/in.ernet.dli.2015.36082/page/n23/mode/2up

Report on the administration of Mewar state, 1940, 1941, 1942. Pg. 23

16. Ibid. Pg. 23

17. https://archive.org/details/in.ernet.dli.2015.36082/page/n21/mode/2up

Report on the administration of Mewar state, 1940, 1941, 1942. Pg. 22

18. Ibid. Pg. 22

19. https://archive.org/details/in.ernet.dli.2015.36082/page/n23/mode/2up

Report on the administration of Mewar state, 1940, 1941, 1942. Pg. 23

20. Ibid. Pg. 23

ISSN 0973-9580

LYNCEAN

Journal of Cultural and Historical Studies

A-343, Chandbardai Nagar, Ajmer, 305003, Rajasthan, INDIA
Email : Lyncean_ichs@yahoo.com.

MEMBERSHIP FORM

Please enter my membership to LYNCEAN: Journal of cultural and Historical Studies for I year/2year/3year/Life Membership.

Membership amount :

Individual		**In India**	**Foreign**
	1 Year	Rs. 500.00	US$ 60
	2 Year	Rs. 1000.00	
		Rs. 1500.00	
Institutional		**In India**	**Foreign**
	1 Year	Rs. 500.00	US$ 60
	2 Year	Rs. 1000.00	
		Rs. 1500.00	

I am sending Rs./$.....(in words).....for the period ..... byDD/Payorder/Cheques (out station cheques require to add Rs. 50.00/$15 extra towards collection charge) no. ..... dated ..... in favor to Editor, **LYNCEAN: Journal of cultural and Historical Studies** payable at Ajmer.

Name (In Capital) .....
Postal Address: .....
.....
.....Pin Code .....
Email: .....
Phone .....Mobile No. .....

Date .....
Place .....

Please send your membership request to Editor, **LYNCEAN: Journal of cultural and Historical Studies, A-343,Chandbardai Nagar, Ajmer-305003, Rajasthan, INDIA**

GUIDELINES TO THE AUTHORS

Lyncean: Journal of Cultural and Historical studies accepts research paper, articles, review papers, etc. ? All the papers and articles should be submitted in duplicate in hard copy along with a soft copy in CD. It is compulsory ? Use **Kruti Dev 010** font for articles submitted in Hindi ? Papers articles etc. will select on quality basis and if not accepted for publication will not be returned to the author if they are not accompanied by self addressed stamped envelope? The facts and view in Article/Research paper etc. will be of the authors and they will be totally responsible for authenticity, validity and originality etc. for the Article/Research Papers etc. ?All queries and correspondence should be through email. But all the papers and articles have to be submitted in duplicate in hard copy along with a soft copy in CD. It is comp'ulsory ? Email address for queries and correspondence is **lyncean_ichs@yahoo.com** ? Author and Co-authors must be the member of Lyncean: Journal of Cultural and Historical Studies ? The Author Should give an undertaking or published elsewhere and articles/papers are their original work.

LYNCEAN

JOURNAL OF CULTURAL AND HISTORICAL STUDIES

Editor: Pratibha

A-342, Chandbardai Nagar, AJMER-305001

Tel +91 145 2691244 Mob. +91 9414281345

Email: lyncean_jchs@yahoo.com